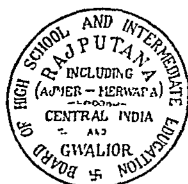
गद्य-रत्न-माला

सङ्कलनकर्त्ता और सम्पादक—

महामहोपाध्याय, रायबहादुर

गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा



Published by

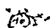
The Educational Publishers Ltd Ajmer

under the authority of the

Board of High School and Intermediate Education
Rajputana (including Ajmer-Merwara)
Central India and Gwalior Ajmer

1935

Price Rs 1/





बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध में
दि फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर में मुद्रित





वक्तव्य

ई० स० १९३४ के जनवरी मास मे राजपूताना, मध्यभारत और ग्वालियर के हाई-स्कूल तथा इंटरमीजिएट शिक्षा बोर्ड के मंत्री महोदय ने बोर्ड के प्रस्ताव के अनुसार मुझसे हाई स्कूल-कक्षाओं के लिए एक गद्य-सकलन ग्रन्थ प्रस्तुत करने का विशेष आग्रह किया। वृद्धावस्था और शारीरिक अस्वस्थतावश मैंने इस कार्य को ग्रहण नहीं करना चाहा, परन्तु कतिपय माननीय साहित्य प्रेमी मित्रों के विशेष अनुरोध से मुझे यह स्वीकार करना पड़ा। अप्रेल मास में चुने हुए लेखों की अस्थायी सूची बोर्ड कार्यालय में भेजी गई। तदनन्तर हिन्दी-कोर्स-कमेटी के सदस्यों के साथ दो दिन तक पूर्ण विचार-विनिमय के पश्चात् समाह्य पाठों का अन्तिम निर्णय हुआ।

इस संग्रह में एक-एक विषय के लेख एकसाथ रखे गए हैं, जिससे विद्यार्थियों को एक विषय के लेखकों की शैली का तुलनात्मक अध्ययन करने में सुविधा हो। पाठों का सङ्कलन करते समय भाषा और विषय दोनों का पूरा विचार रखा गया है। लेखों को गद्य के विकास क्रम के अनुसार नहीं रखा है, किन्तु परिशिष्ट में सब लेखकों की भाषा तथा शैली आदि का सक्षिप्त विवेचन किया गया है, जिससे विभिन्न रचनाओं के पठन के साथ-साथ छात्र गद्य विकास का सम्बन्ध जान सकेंगे। सब प्रकार का उत्कृष्ट एवं उपयोगी साहित्य छात्रों के सम्मुख रहे, यही दृष्टि पाठों के विषयों के चुनाव में रही है। अन्तिम पाठ 'मातृभूमि' को छात्रों के लिए कुछ कठिन जानकर उसपर टिप्पणी दी गई है। जहाँ तक हो सका, लेखकों की भाषा मे परिवर्तन नहीं किया गया है। पुस्तक के आधी छपने पर प्रेस ने बतलाया कि चुने हुए सब पाठों का 'मैटर' निर्धारित पृष्ठ सख्या मे नहीं छप सकेगा, तब विवश होकर सन् १९३७ की हाई-स्कूल परीक्षा के लिए

पठनीय पाठों के अतिरिक्त कुछ अन्य लेखों का प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश नहीं हो सका।

आशा है, पाठों की सुरुचि-सम्पन्नता, उपादेयता और सामयिकता का ध्यान रखते हुए यह सङ्कलन-ग्रन्थ हाई-स्कूल-कक्षाओं के लिए उपयुक्त सिद्ध होगा। इसके सिवा इन पाठों को पढकर छात्रों में उत्तम साहित्य के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति होगी, जिससे उत्कृष्ट लेखकों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हुए वे स्वयं कालान्तर मे विद्वान् एव साहित्य सेवी वन सकेंगे। प्रस्तुत ग्रन्थ के बहुत थोड़े समय में छपने पर भी इसका प्रूफ सशोधन सावधानीपूर्वक हुआ है। फिर भी छपते समय कहीं-कहीं अनुसार तथा मात्राओं के टूटने और अक्षरों के हट जाने से कुछ शब्दों का रूपान्तर हो गया है, अत सहृदय पाठक उन्हे सुधारकर पढें।

मैं उन सब लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपनी रचनाओं को इसमें सम्मिलित करने की मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान की है। प्रकाशकों मे इडियन प्रेस, प्रयाग, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा के गयाप्रसाद एण्ड सन्स, गगा ग्रन्थागार, लखनऊ और चित्रों के प्रबन्ध में सहायता देने के कारण 'कुमार'-सपादक श्रीयुत रविशङ्कर रावल धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में मैं अपने आयुष्मान् पुत्र प्रोफेसर रामेश्वर ओझा, एम्० ए० का नामोल्लेख आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि यदि सङ्कलन, सम्पादन, सशोधन आदि सब कार्यों में मुझे उसका पूर्ण सहयोग और अनवरत परिश्रम सुलभ न होता, तो इस सङ्कलन ग्रन्थ को हिन्दी-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित करना असम्भव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य था।

अजमेर,
वैशाखी पूर्णिमा,
सवत् १९९२ वि०

गौरीशङ्कर-हीराचंद ओझा.

विषय-सूची

* यह चिह्न स्वर्गवासी लेखकों का सूचक है।

विषय पृष्ठ

निबन्ध (Essays)

† द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिर के।

तुम चाय पी चुके ? प्रवीण ने सहास मुख से कहा—हाँ, पी चुका। बहुत अच्छी बनी थी।

'पर दूध और शक्कर कहाँ से लाये ?'

'दूध और शक्कर तो कई दिनों से नहीं मिलता। मुझे आजकल सादा चाय ज्यादा स्वादिष्ट लगती है। दूध और शक्कर मिलाने से उसका स्वाद बिगड़ जाता है। डाक्टरों की भी यही राय है, कि चाय हमेशा सादा पीनी चाहिये। योरप में तो दूध का बिलकुल रिवाज नहीं है। यह तो हमारे यहाँ के मधुर-प्रिय रईसों की ईजाद है।'

'जाने तुम्हें फीकी चाय कैसे अच्छी लगती है। मुझे जगा क्यों न लिया। पैसे तो रखे थे।'

महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था, और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गई, स्वास्थ्य घुल गया और चालीस की अवस्था में बुढापे ने आ घेरा, पर यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात रात तक यह साहित्य का उपासक अन्तर्जगत में डूबा हुआ, समस्त ससार से मुँह मोडे, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढाता रहता था। पर भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। मन तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न करता, दोनो के वरदान का पात्र क्यों कर बनता, और लक्ष्मी की अकृपा केवल धनाभाव के रूप मे न प्रकट होती थी। उसकी सबसे निर्दय क्रीडा यह थी, कि पत्रों के सम्पादक और

पुस्तकों के प्रकाशक उदारतापूर्वक सहृदयता का दान भी न देते थे। कदाचित् सारी दुनिया ने उसके विरुद्ध कोई षड्यन्त्र सा रच डाला था। यहाँ तक कि इस निरंतर अभाव ने उसमें आत्म-विश्वास को जैसे कुचल दिया था। कदाचित् अब उसे यह ज्ञात होने लगा था, कि उसकी रचनाओं में कोई सार, कोई प्रतिभा नहीं है और यह भावना अत्यन्त हृदय-विदारक थी। यह दुर्लभ मानव-जीवन योंही नष्ट हो गया! यह तस्कीन भी नहीं कि संसार ने चाहे उसका सम्मान न किया हो, पर उसकी जीवन कृति इतनी तुच्छ नहीं। जीवन की आवश्यकताएँ घटते घटते सन्यास की सीमा को भी पार कर चुकी थीं। अगर कोई सन्तोष था, तो यह कि उनकी जीवन-सहचरी त्याग और तप में उनसे भी दो क़दम आगे थी। सुमित्रा इस दशा में भी प्रसन्न थी। प्रवीणजी को दुनिया से शिकायत हो, पर सुमित्रा जैसे गेंद में भरी हुई वायु की भाँति उन्हें बाहर की ठोकरों से बचाती रहती थी। अपने भाग्य का रोना तो दूर की बात थी, इस देवी ने कभी माथे पर बल भी न आने दिया।

सुमित्रा ने चाय का प्याला समेटते हुए कहा—तो जाकर घंटा-आध-घंटा कहीं घूम-फिर क्यों नहीं आते। जब मालूम हो गया कि प्राण देकर काम करने से भी कोई नतीजा नहीं, तो व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो।

प्रवीण ने बिना मस्तक उठाये, कागज़ पर कलम चलाते हुए कहा—लिखने में कम-से-कम यह सन्तोष तो होता है, कि

कुछ कर रहा हूँ। सैर करने में तो मुझे ऐसा जान पडता है, कि समय का नाश कर रहा हूँ।

'यह इतने पढे-लिखे आदमी नित्य प्रति हवा खाने जाते है, तो अपने समय का नाश करते हैं ?'

'मगर इनमे अधिकाश वही लोग हैं, जिनके सैर करने से उनकी आमदनी मे बिलकुल कमी नहीं होती। अधिकाश तो सरकारी नौकर है, जिनको मासिक वेतन मिलता है, या ऐसे पेशो के लोग हैं, जिनका लोग आदर करते हैं। मैं तो मिल का मजूर हूँ। तुमने किसी मजूर को हवा खाते देखा है ? जिन्हे भोजन की कमी नहीं, उन्हीं को हवा की भी जरूरत है। जिनको रोटियो के लाले हैं, वे हवा खाने नहीं जाते। फिर स्वास्थ्य और जीवन वृद्धि की जरूरत उन लोगो को है, जिनके जीवन मे आनन्द और स्वाद है। मेरे लिये तो जीवन भार है। इस भार को सिर पर कुछ दिन और बनाये रहने की अभिलाषा मुझे नही है।'

सुमित्रा ये निराशा में डूबे हुए शब्द सुनकर आँखो मे आँसू भरे अन्दर चली गई। उसका दिल कहता था, इस तपस्वी की कीर्ति-कौमुदी एक दिन अवश्य फैलेगी, चाहे लक्ष्मी की अकृपा बनी रहे, किन्तु प्रवीण महोदय अब निराशा की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से प्रतिकूल दिशा मे उदय होने वाली आशा-मय उषा की लाली भी नहीं दिखाई देती।

(२)

एक रईस के यहाँ कोई उत्सव है। उसने महाशय प्रवीण को

भी निमन्त्रित किया है। आज उनका मन आनन्द के घोड़े पर बैठा हुआ नाच रहा है। सारे दिन वह इसी कल्पना में मग्न रहे। राजा साहब किन शब्दों में उनका स्वागत करेंगे और वह किन शब्दों में उनको धन्यवाद देंगे, किन प्रसंगों पर वार्तालाप होगा और किन महानुभावों से उनका परिचय होगा, सारे दिन वह इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द उठाते रहे। इस अवसर के लिये उन्होंने एक कविता भी रची, जिसमें जीवन की एक उद्यान से तुलना की थी। अपनी सारी धारणाओं की उन्होंने आज उपेक्षा कर दी, क्योंकि रईसों के मनोभावों को वह आघात न पहुँचा सकते थे।

दोपहर ही से उन्होंने तैयारियाँ शुरू कीं। हजामत बनाई, साबुन से नहाया, सिर में तेल डाला। मुश्किल कपड़ों की थी। मुद्दत गुजरी, जब उन्होंने एक अचकन बनवाई थी। उसकी दशा भी उन्हीं की दशा जैसी जीर्ण हो चुकी थी। जैसे जरा-सी सर्दी या गर्मी से उन्हें जुकाम या सिर दर्द हो जाता था, उसी तरह वह अचकन भी नाजुक-मिजाज थी। उसे निकाला और झाड़-पोंछ कर रक्खा।

सुमित्रा ने कहा—तुमने व्यर्थ ही यह निमन्त्रण स्वीकार किया। लिख देते, मेरी तबीयत अच्छी नहीं है। इन फटे-हालों जाना तो और भी बुरा है।

प्रवीण ने दार्शनिक गंभीरता से कहा—जिन्हें ईश्वर ने हृदय और परख दी है, वे आदमियों की पोशाक नहीं देखते—उसके

गुण और चरित्र देखते है। आखिर कुछ बात तो है कि राजा साहब ने मुझे निमन्त्रित किया। मैं कोई ओहदेदार नहीं, जमादार नहीं, जागीरदार नहीं, ठेकेदार नहीं, केवल एक साधारण लेखक हूँ। लेखक का मूल्य उसकी रचनाएँ होती हैं। इस एतबार से मुझे किसी भी लेखक से लज्जित होने का कारण नही है।

सुमित्रा उसकी सरलता पर दया करके बोली—तुम कल्पनाओं के ससार में रहते-रहते प्रत्यक्ष संसार से अलग हो गये हो। मैं कहती हूँ, राजा साहब के यहाँ लोगो की निगाह सबसे ज्यादा कपडो ही पर पडेगी। सरलता जरूर अच्छी चीज है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि आदमी फूहड बन जाय।

प्रवीण को इस कथन मे कुछ सार जान पडा। विद्वजनो की भाँति उन्हे भी अपनी भूलों को स्वीकार करने मे कुछ विलम्ब न होता था। बोले—मैं समझता हूँ, दीपक जल जाने के बाद जाऊँ।

'मैं तो कहती हूँ, जाओ ही क्यों ?'

'अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन मे आदर और सम्मान की एक क्षुधा होती है। तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है ? इसलिये, कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मञ्जिल है। हम उस महासत्ता के सूक्ष्माश हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है। अश मे पूर्ण (अशी) के गुणों का होना लाज़िमी है। इसलिये कीर्ति और सम्मान, आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।

सुमित्रा ने गला छुड़ाने के लिये कहा—अच्छा भई जाओ, मैं तुमसे बहस नहीं करती, लेकिन कल के लिये कोई व्यवस्था करते आना, क्योंकि मेरे पास केवल एक आना और रह गया है। जिनसे उधार मिल सकता था उनसे ले चुकी और जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आई। मुझे तो अब और कोई उपाय नहीं सूझता।

प्रवीण ने एक क्षण के बाद कहा—दो-एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आने वाले हैं। शायद कल तक आ जायँ। और अगर कल उपवास ही करना पड़े, तो क्या चिन्ता। हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं और तन-मन से करते हैं। अगर इसपर भी हमें फाका करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे जैसे लाखों आदमी रोज मरते हैं। संसार का काम ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। फिर इसका क्या ग़म कि हम भूखों मर जायँगे। मौत डरने की वस्तु नहीं। मैं तो कबीर-पंथियों का कायल हूँ, जो अर्थी को गाते बजाते ले जाते हैं। मैं इससे नहीं डरता। तुम्हीं कहो, मैं जो कुछ करता हूँ, इससे अधिक और कुछ मेरी शक्ति के बाहर है या नहीं। सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं क़लम लिये बैठा होता हूँ। लोग हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं, मेरे लिये वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने की नौबत नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीमार भी होता हूँ, तो लिखने की फिक्र सिर पर सवार रहती है। सोचो, तुम बीमार थीं, और

मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिये समय न पाता था। अगर दुनिया नहीं कदर करती, न करे, इसमें दुनिया का ही नुकसान है। मेरी कोई हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है, या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र, परिचित या सम्बन्धी है, जिस का मैं आभारी नहीं, यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। सन्तोष इतना ही है, कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद न कर सकें, पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है। मेरी खुशी के लिये इतना ही काफी है, कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उनपर एक नशा सा छा गया। गर्व से बोले— नहीं, मैं अब रात को न जाऊँगा। मेरी गरीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उसपर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमन्त्रित करें, वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मुझे नीचा समझे, तो वह खुद नीचा है।

(३)

सन्ध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटी पुरानी अचकन और सड़े हुए जूते और बेढगी सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वा-मख्वाह बाँगड़ू उचक्के से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस ठाठ में भी एक शान होती।

स्थूलता स्वयं रोब डालने वाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है, अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताजा, डबल आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है, जलना। दीपक वही लबालब भरा होगा, जो जला नहीं। अकबर ने कहा है—

"शिकम होता तो मैं इस अहद मे फूला-फूला होता।
सरापा दिल बना हूँ इस सबब से कुश्तए गम हूँ।"

फिर भी आप अकड़े जाते हैं। एक एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकलकर वह दूकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। पर आज वह गरदन उठाए, उनके सामने से जा रहे हैं। आज वह उनके तक़ाजों का दंदाँ शिकन जवाब देने को तैयार हैं। पर सन्ध्या का समय है, हरेक दूकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ़ नहीं देखता। जिस रकम को वह अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दूकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी कि एक जाने पहचाने आदमी को सरे-बाजार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाजार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया, पर वह भी निष्फल। तब वह खुद हाफ़िज़ समद की दूकान पर जाकर खड़े हो गए। हाफ़िज़जी बिसाते का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए प्रवीण इस दूकान

से एक छतरी ले गये थे और अभी तक दाम न चुका सके थे। प्रवीण को देखकर बोले—महाशयजी, अभी तक छतरी के दाम नहीं मिले। ऐसे सौ-पचास गाहक मिल जायँ, तो दिवाला ही हो जाय। अब तो बहुत दिन हुए।

प्रवीण की बाछें खिल गईं। दिली मुराद पूरी हुई। बोले—मैं भूला नहीं हूँ हाफिजजी, इन दिनों काम इतना ज्यादा था कि घर से निकलना मुश्किल था। रुपये तो नहीं हाथ आते, पर आप की दुआ से क़द्रशिनासों की कमी नहीं। दो-चार आदमी घेरे ही रहते हैं। इस वक्त भी राजा साहब—अजी वही जो नुक्कडवाले बँगले में रहते हैं—उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ। दावत है। रोज ऐसा कोई-न-कोई मौका आता ही रहता है।

हाफिज समद प्रभावित होकर बोला—अच्छा! आप राजा साहब के यहाँ तशरीफ ले जा रहे है। ठीक है, आप जैसे बा-कमालों की क़द्र रईस ही कर सकते हैं, और कौन करेगा, सुभानल्लाह! आप इस जमाने मे यकता हैं। अगर कोई मौक़ा हाथ आ जाय, तो गरीबों को न भूल जाइयेगा। राजा साहब की अगर इधर निगाह हो जाय, तो फिर क्या पूछना। एक पूरा बिसाता तो उन्हीं के लिये चाहिए। ढाई-तीन लाख सालाना आमदनी है।

प्रवीण को ढाई-तीन लाख कुछ तुच्छ जान पडे। जबानी जमा-खर्च है, तो दस बीस लाख कहने में क्या हानि। बोले—ढाई-तीन लाख! आप तो उन्हें गालियाँ देते हैं। इनकी आमदनी दस लाख से कम नहीं। एक साहब का अन्दाजा तो बीस लाख का

है। इलाका है, मकानात हैं, दूकानें हैं, ठेका है, अमानती रुपए हैं, और फिर सबसे बड़ी सरकार-बहादुर की निगाह है।

हाफिज ने बड़ी नम्रता से कहा—यह दूकान आप ही की है जनाब, बस इतनी ही अरज है। अरे मुरादी, जरा दो पैसे के अच्छे-से पान तो बनवा ला, आपके लिये। आइये, दो मिनट बैठिए। कोई चीज पसन्द हो तो दिखाऊँ। आपसे तो घर का वास्ता है।

प्रवीण ने पान खाते हुए कहा—इस वक्त तो मुआफ रखिए। वहाँ देर होगी। फिर कभी हाजिर हूँगा।

वहाँ से उठकर वह एक कपड़ेवाले की दूकान के सामने रुके। मनोहरदास नाम था। इन्हे खड़े देखकर आँखें उठाई। बेचारा इनके नाम को रो बैठा था। समझ लिया, शायद शहर मे हैं ही नहीं। समझा, रुपये देने आए हैं। बोला—भाई प्रवीणजी! आपने तो बहुत दिनो दर्शन ही नहीं दिये। रुक्का कई बार भेजा, मगर प्यादे को आपके घर का पता ही न मिला। मुनीमजी, जरा देखो तो आपके नाम क्या है।

प्रवीणजी के प्राण तकाजो से सूख जाते थे, पर आज वह इस तरह खड़े थे, मानो उन्होंने कोई कवच धारण कर लिया है, जिस पर किसी अस्त्र का आघात नहीं हो सकता। बोले—जरा इन राजा साहब के यहाँ से लौट आऊँ, तो निश्चिंत होकर बैठूँ। इस समय जल्दी मे हूँ।

राजा साहब पर मनोहरदास के कई हजार रुपये आते थे। फिर भी उनका दामन न छोड़ता था। एक के तीन वसूल करता।

उसने प्रवीणजी को उसी श्रेणी में रखा, जिसका पेशा रईसो को लूटना है। बोला—पान तो खाते जाइये महाशय। राजा साहब एक दिन क है, हम तो बारहो मास के हैं। भाई साहब! कुछ कपड़े दरकार हों, तो ले जाइए। अब तो होली आ रही है। मौका हो तो जरा राजा साहब के खजानची से कहिएगा, पुराना हिसाब बहुत दिन से पड़ा हुआ है, अब तो सफाई हो जाय। अब हम ऐसा कौन-सा नफा ले लेते हैं, कि दो-दो साल हिसाब ही न हो।

प्रवीण ने कहा—इस समय पान-वान रहने दो भाई। देर हो जायगी। जब उन्हें मुझसे मिलने का इतना शौक है और मेरा इतना सम्मान करते है, तो अपना भी धर्म है, कि उनको मेरे कारण कष्ट न हो। हम तो गुण-ग्राहक चाहते हैं, दौलत के भूखे नहीं। कोई अपना सम्मान करे, तो उसकी गुलामी करें। अगर किसी को रियासत का घमंड हो, तो हमें भी उसकी परवाह नहीं।

(४)

प्रवीणजी राजा साहब के विशाल भवन के सामने पहुँचे, तो दिये जल चुके थे। अमीरो और रईसो की मोटरें खड़ी थीं। वरदी-पोश दरबान द्वार पर खड़े थे। एक सज्जन मेहमानों का स्वागत कर रहे थे। प्रवीणजी को देखकर वह जरा झिझके। फिर उन्हें सिर से पाँव तक देखकर बोले—आपके पास नवेद है?

प्रवीण जी की जेब में नवेद था। पर इस भेद-भाव पर उन्हें क्रोध आ गया। उन्हीं से क्यों नवेद माँगा जाय? औरो से भी क्यों न पूछा जाय? बोले—जी नहीं, मेरे पास नवेद नहीं है। अगर

आप अन्य महाशयों से नजेद माँगते हो, तो मैं भी दिखा सकता हूँ। वरना मैं इस भेद को अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ। आप राजा साहब से कह दीजिएगा, प्रवीणजी आए थे और द्वार से लौट गए।

'नहीं-नहीं, महाशय, अन्दर चलिए। मुझे आपसे परिचय न था। बेअदबी माफ कीजिए। आप ही जैसे महानुभावों से तो महफिल की शोभा है। ईश्वर ने आपको वह वाणी प्रदान की है कि क्या कहना!'

इस व्यक्ति ने प्रवीण को कभी न देखा था। लेकिन जो कुछ उसने कहा, वह हरेक साहित्यसेवी के विषय में कह सकते हैं, और हमें विश्वास है कि कोई साहित्यसेवी इस दाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवीण अन्दर पहुँचे, तो देखा, बारहदरी के सामने विस्तृत और सुसज्जित प्रागण में बिजली के कुमकुम अपना प्रकाश फैला रहे हैं। मध्य में एक हौज़ है, हौज में संगमरमर का परी, परी के सिर पर फौवारा, फौवारे की फुहारें रंगीन कुमकुमों से रंजित होकर ऐसी मालूम होती थीं, मानो इन्द्र-धनुष पिघलकर ऊपर से बरस रहा है। हौज के चारों ओर मेजें लगी हुई थीं। मेजों पर सुफेद मेज-पोश, ऊपर सुन्दर गुलदस्ते।

प्रवीण को देखते ही राजा साहब ने स्वागत किया—आइये, आइये, अबकी 'हंस' में आपका लेख देखकर दिल फड़क उठा।

मैं तो चकित हो गया। मालूम ही न था, कि इस नगर में आप-जैसे रत्न भी छिपे हुए हैं।

फिर उपस्थित सज्जनों से उनका परिचय देने लगे—आपने महाशय प्रवीण का नाम सुना होगा। वह आप ही हैं। क्या माधुर्य है, क्या प्रसाद है, क्या ओज है, क्या भाव है, क्या भाषा है, क्या सूझ है, क्या चमत्कार है, क्या प्रवाह है, कि वाह! वाह! मेरी तो आत्मा जैसे नृत्य करने लगती है।

एक सज्जन ने, जो अंग्रेजी सूट में थे, प्रवीण को ऐसी निगाह से देखा, मानों वह चिड़िया-घर के कोई जीव हो, और बोले—आपने अंग्रेजी के कवियों का भी अध्ययन किया है—बाइरन, शैली, कीट्स आदि?

प्रवीण ने रुखाई से जवाब दिया—जी हाँ, थोड़ा बहुत देखा तो है।

'आप इन महाकवियों में से किसी की रचनाओं का अनुवाद कर दें, तो आप हिन्दीभाषा की अमर सेवा करें।'

प्रवीण अपने को बाइरन, शैली आदि से जौ भर भी कम न समझते थे। वे अंग्रेजी के कवि थे, उनकी भाषा, शैली, विषय, व्यंजना, सभी अंग्रेजों की रुचि के अनुकूल थीं। उनका अनुवाद करना वह अपने लिये गौरव की बात न समझते थे, उसी तरह जैसे वे उनकी रचनाओं का अनुवाद करना अपने लिए गौरव की वस्तु न समझते। बोले—हमारे यहाँ आत्मदर्शन का अभी इतना अभाव नहीं है, कि हम विदेशी कवियों से भिक्षा माँगें।

मेरा विचार है, कि कम-से-कम इस विषय में भारत अब भी पश्चिम को कुछ सिखा सकता है।

यह अनर्गल बात थी। अंग्रेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को पागल समझा।

राजा साहब ने प्रवीण को ऐसी आँखों से देखा, जो कह रही थीं—जरा मौका-महल देखकर बातें करो, और बोले—अंग्रेजी साहित्य का क्या पूछना! कविता में तो वह अपना जोड नहीं रखता।

अंग्रेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को सगर्व नेत्रों से देखा—हमारे कवियों ने अभी तक कविता का अर्थ ही नहीं समझा। अभी तक वियोग और नख-शिख को कविता का आधार बनाए हुए हैं।

प्रवीण ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया—मेरा विचार है, कि आपने वर्तमान कवियों का अध्ययन नहीं किया, या किया, तो ऊपरी आँखों से।

राजा साहब ने अब प्रवीण की जबान बन्द कर देने का निश्चय किया—आप मिस्टर पराजपे हैं। प्रवीणजी, आपके लेख अँग्रेजी पत्रों में छपते हैं और बडी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इसका आशय यह था, कि अब आप ज्यादा न बहकिये।

प्रवीण समझ गये। पराजपे के सामने उन्हें नीचा देखना पडा। विदेशी वेश-भूषा और भाषा का यह भक्त इतना सम्मान पाये, यह उनके लिए असह्य था, पर करते क्या?

'अरे भाई-जान, किसी प्राचीन कवि की ही कोई चीज़ सुना दीजिये। यहाँ कौन जानता है।'

'जी नहीं, क्षमा कीजियेगा। मैं भाट नहीं हूँ, न कथक हूँ।'

यह कहते हुए प्रवीणजी तुरन्त वहाँ से चल दिए। घर पहुँचे, तो उनका चेहरा खिला हुआ था।

सुमित्रा ने प्रसन्न होकर पूछा—इतनी जल्द कैसे आ गये?

'मेरी वहाँ कोई जरूरत न थी।'

'चलो चेहरा खिला हुआ है। खूब सम्मान हुआ होगा।'

'हाँ, सम्मान तो जैसी आशा न थी वैसा हुआ।'

'खुश बहुत हो?'

इसी से कि आज मुझे हमेशा के लिये सबक़ मिल गया। मैं दीपक हूँ और जलने के लिये बना हूँ। आज मैं इस तत्त्व को भूल गया था। ईश्वर ने मुझे ज्यादा बहकने न दिया। मेरी यह कुटिया ही मेरे लिये स्वर्ग है। मै आज यह तत्त्व पा गया, कि साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।

—प्रेमचन्द

यही मेरी मातृभूमि है

(१)

आज पूरे ६० वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि—प्यारी मातृभूमि—के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त सञ्चालित हो रहा था। हृदय उमगों और बड़ी बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और कानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे सो करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ खूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी पैदा किया तथा धन से आनन्द भी खूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपनी सानी आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुन्दरता की ख्याति तमाम

अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका सबंध मुझसे न हो। मैं उसपर तन मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे, जो सुन्दर, हृष्ट पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हे-नन्हे पौत्र गोद में बैठे हुए थे जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाये। मैंने अनन्त धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे प्यारे जिगर के टुकडे नन्हें-नन्हे बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसीलिये परित्याग कर दिये कि मैं प्यारी भारत जननी का अन्तिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढा हो गया हूँ, १० वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाकी है कि मै अपनी मातृभूमि का रजकण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन मे उत्पन्न नहीं हुई बल्कि उस समय भी थी जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातें और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी और जब कि मेरे युवा पुत्र प्रात काल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा सा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लडके थे और जायदाद थी, मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रहकर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोपडे, चार छ बीघा मौरूसी जमीन और बालपन के लँगोटिया यारो की याद

अक्सर सता जाया करती । प्राय अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि "यदि मैं अपने देश मे होता ।"

(२)

जिस समय मैं बम्बई में जहाज मे उतरा, मैंने पहिले काले-काले कोट-पतलून पहिने टूटी फूटी अँग्रेजी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अंग्रेजी दूकानें, ट्राम और मोटर-गाडियाँ दीख पडीं। इसके बाद रबर-टायरवाली गाडियों की ओर मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड हुई। मैंने रेल का विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन देखा। फिर मैं रेल मे सवार होकर हरी-हरी पहाडियों के मध्य मे स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आखों में आँसू भर आये और मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इंगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं था।

रेलगाड़ी जगलो, पहाडों, नदियो और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय मे फूल, पत्तों और फलो की बहुतायत तथा नदी नालो की अधिकता से स्वर्ग की होड कर रहा था। मैं जब गाडी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था, अब अपना प्यारा घर दे बालपन के प्यारे साथियो से मिलूँगा। मैं इस

कि मैं ९० वर्ष का बूढा हूँ। ज्यों ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरा पग शीघ्र-शीघ्र उठते थे और हृदय मे अकथनीय आनद का स्रोत उमड रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आखें फाड-फाडकर दृष्टि डालता था। अहा ! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज घोडे नहलाते थे और स्वय भी डुबकियाँ लगाते थे। किन्तु अब उसके दोनो ओर कॉटेदार तार लगे हुए थे और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अग्रेज बदूकें लिए इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव मे गया और निगाहे बालपन के साथियों को खोजने लगीं, किन्तु शोक ! वे सब के सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोपडा—जिसकी गोद मे मै बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफिक्री के आनद लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों मे फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

(३)

यह स्थान गैर-आबाद न था। सैकडो आदमी चलते-फिरते दृष्टि आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिन्ता, निर्जीवता, और उदासी प्रदर्शित होती थी और वे सब सासारिक चिन्ताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट पुष्ट बलवान् लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पडते थे। उस अखाडे के स्थान पर, जिसकी जड

मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमे दुर्बल और कान्तिहीन रोगियों की-सी सूरतवाले बालक फटे कपडे पहिने बैठे ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा कि "नहीं नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा भारतवर्ष नहीं है।"

बरगद के पेड की ओर मैं दौडा, जिसकी सुहावनी छाया मे मैंने बचपन के आनन्द उडाये थे, जो हमारे छुटपन का क्रीडा स्थल और युवावस्था का सुखप्रद वासस्थान था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बडा आघात पहुँचा और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दु खदायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताजी हो गई कि घटों पृथ्वी पर बैठे-बैठे मैं आँसू बहाता रहा। हा! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढकर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी भूला थीं और जिसके फल हमे सारे ससार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले मे बाँहे डालकर खेलनेवाले लँगोटिया यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गये? हाय, मैं अब बिना घरबार का मुसाफिर क्या अकेला ही हूँ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं? इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफा बाँधे बैठा था। उसके आस-पास दस बीस लाल पगडीवाले करबद्ध खडे थे। वहाँ फटे-पुराने कपडे पहिने दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष, जिसपर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पडा सिसक रहा था। मुझे ध्यान

आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, कोई और देश है। यह योरोप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं है।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी कहक़हे उडाते थे। हम भी उस टाट के विछौने पर कलाबाजियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पचायत भी बैठती थी, जिसके सरपच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव भर की गायें रक्खी जाती थीं और बछडो के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक! कि अब उस चौपाल का पता तक न था। वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाडा था, जहाँ जाडे के दिनो में ईख पेरी जाती थी और गुड की सुगन्ध से मस्तिष्क पूर्ण हो जाता था। हम और हमारे साथी वहाँ गँडेरियों के लिए बैठे रहते और गँडेरियाँ करनेवाले मजदूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हजारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था और वहाँ आस-पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने अपने घड़े लेकर आते थे और उनमे रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों के त्यों खडे थे, किन्तु कोल्हवाडे की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तबोली

और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय विदारक दृश्यों को देखकर मैंने दुखित हृदय से, एक आदमी से, जो देखने में भला मालूम होता था, पूछा—"महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ, रात भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजियेगा ?" इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और कहने लगा कि "आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ भी यही उत्तर मिला कि "आगे जाओ"। पाँचवी बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा कि "हाय, यह मेरा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि सत्कारकारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिबिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा कि अचानक मुझे धर्मशाला स्मरण हो आई, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किन्तु उसमें गरीब यात्रियों के टिकने के लिये स्थान न था। मदिरा, दुराचार और द्यूत ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशत मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं जोर से चिल्ला उठा कि "नहीं, नहीं, नहीं और हजार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और

आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, कोई और देश है। यह योरोप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं है।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुजुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी कहकहे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कलाबाजियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पचायत भी बैठती थी, जिसके सरपच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव भर की गायें रक्खी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं किलोलें किया करते थे। शोक! कि अब उस चौपाल का पता तक न था। वहाँ अब गाँवों मे टीका लगाने की चौकी और डाकखाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाडा था, जहाँ जाडे के दिनों में ईख पेरा जाती थी और गुड की सुगन्ध से मस्तिष्क पूर्ण हो जाता था। हम और हमारे साथी वहाँ गँडेरियों के लिए बैठे रहते और गँडेरियाँ करनेवाले मजदूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हजारों बार मैंने कच्चा रस और पका दूध मिलाकर पिया था और वहाँ आस पास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने अपने घड़े लेकर आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों के त्यों खड़े थे, किन्तु कोल्हवाडे की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तबोली

और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने दुखित हृदय से, एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—"महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ। रात भर लेट रहने की मुझे आज्ञा दीजियेगा ?" इस आदमी ने मुझे शिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और कहने लगा कि "आगे जाओ, यहाँ जगह नहीं है।" मैं आगे गया और वहाँ से भी यही उत्तर मिला कि "आगे जाओ"। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पडे और नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा कि "हाय, यह मेरा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि सत्कारकारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।"

मैंने एक सिगरेट की डिब्बिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा कि अचानक मुझे धर्मशाला स्मरण हो आई, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक! शोक!! महान् शोक!!! ज्यों-की-त्यों खडी थी, किन्तु उसमें गरीब यात्रियों के टिकने के लिये स्थान न था। मदिरा, दुराचार और द्यूत ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशत मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं जोर से चिल्ला उठा कि "नहीं, नहीं, नहीं और हजार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और

देश है । यह योरोप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।"

(४)

अँधेरी रात थी। गीदड और कुत्ते अपने-अपने कर्कश] स्वर मे उच्चारण कर रहे थे। मैं अपना दु खित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा—अब क्या करूँ? क्या फिर अपने पुत्रो के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की मिट्टी मे मिलाऊँ? अब तक मेरी मातृभूमि थी; मै विदेश मे जरूर था, किन्तु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मै देश-विहीन हूँ। मेरा ।कोई देश नही है। इसी सोच विचार मे मैं बहुत देर तक घुटनों पर शिर रक्खे मौन रहा। रात्रि नेत्रो मे ही व्यतीत की। घंटेवाले ने तीन बजाये और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्‌गद्‌ हो गया कि यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है। मैं तुरत उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि १५–२० वृद्धा स्त्रियाँ सफेद धोतियाँ पहिने, हाथो मे लोटे लिये स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने मे मुझे बहुत आदमियों की बोलचाल सुन पडी। उनमे से कुछ लोग

हाथों में पीतल के कमडलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गगे गगे, नारायण नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। आनन्द-दायक और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की चचल-से चचल और प्रसन्न-से-प्रसन्न चित्त वाली लावण्यवती स्त्रियों का आलाप सुना था, सहस्रों बार उन की जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, हृदयाकर्षक वचनों का आनन्द उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था, किन्तु जो आनन्द, जो मज़ा और जो सुख मुझे इस राग में आया वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने खुद गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनन्दातिरेक से मेरा हृदय आनन्दमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतित-पावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिन्दू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित पावनी भागीरथी गगा मेरे प्यारे गाँव से छ सात मील पर बहती थीं। किसी समय घोड़े पर चढ़कर गगा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारों मनुष्यों

को इस ठडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मन्त्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में सलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेद-मन्त्र पढ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं जोर से कह उठा, "हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी तथा इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा थी।"

(५)

मैं विशेष आनन्द में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गगा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन भर निर्दय लोगो के साथ रहने के बाद सन्ध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौडकर चला आये और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश मे हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गङ्गा के किनारे एक छोटी सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रात-साय गगास्नान करता हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गगा माता की लहरों की भेंट हो।

सेवा-भाव देखकर जी खुश हो गया।"

शिशुपाल ने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सर्प को छेड़ दिया हो और नाक-भौं चढ़ाकर उत्तर दिया—"आप हमारे अतिथि हैं, अन्यथा ब्राह्मण ऐसे शब्द नहीं सुन सकते।"

परदेसी ने अपनी भूल पर लज्जित होकर कहा—"क्षमा कीजिये, मेरा यह अभिप्राय न था। परन्तु आजकल वे ब्राह्मण कहाँ हैं। अब तो आँखें उनके लिये तरसती हैं।"

शिशुपाल ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण तो अब भी हैं, कमी केवल क्षत्रियों की है।"

"मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा?"

शिशुपाल ने एक लम्बी-चौड़ी वक्तृता आरम्भ कर दी, जिसको सुनकर परदेसी दंग रह गया। उसकी बातें ऐसी युक्तियुक्त और प्रभावशाली थीं कि परदेसी उनपर मुग्ध हो गया। इस छोटे-से गाँव में ऐसा विद्वान्, ऐसा तत्त्वदर्शी पंडित हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी। उसने शिशुपाल का युक्ति युक्त तर्क और शासन-पद्धति का इतना विशाल ज्ञान देखकर कहा—"मुझे ख्याल न था कि यहाँ गोबर में फूल खिला हुआ है। महाराज अशोक को पता लग जाय, तो आपको किसी ऊँचे पद पर नियुक्त कर दें।"

शिशुपाल के शुष्क होठों पर [illegible] जिसका अन्तःकरण कुढ़ रहा हो, [illegible] मस्तिष्क अपने आपे में न [illegible]

न्याय-मन्त्री

(१)

यह घटना आज से २५०० वर्ष पहले की है।

एक दिन सन्ध्या समय, जब आकाश में बादल लहरा रहे थे, बुद्धगया नामक गाँव में एक परदेसी शिशुपाल ब्राह्मण के द्वार पर आया और नम्रता से बोला—क्या मुझे रात काटने के लिये स्थान मिल जायगा ?

शिशुपाल अपने गाँव में सबसे निर्धन थे। घोर दारिद्र ने भूखे बैल की नाईं उनकी हड्डियों का पंजर निकाल रक्खा था। उनकी आजीविका थोड़ी-सी भूमि पर चलती थी। परन्तु फिर भी परदेसी को द्वार पर देखकर उनका मुख खिल उठा, जैसे कमल सूर्य के उदय होने पर खिल उठता है।

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"यह मेरा सौभाग्य है, आइए, पधारिए। अतिथि के चरणों से चौका पवित्र हो जायगा।"

परदेसी और ब्राह्मण दोनों अन्दर गये। भारतवर्ष में अतिथि सत्कार की रीति बहुत प्रचलित थी। शिशुपाल के पुत्र ने अतिथि का सत्कार किया। परदेसी मुग्ध हो गया। उसने ब्राह्मण से कहा—"आपका पुत्र बड़े काम का आदमी है, उसका

हँसकर उत्तर दिया—"यदि मैं अशोक होता, तो आपकी मनोकामना पूर्ण कर देता।"

सहसा ब्राह्मण के हृदय में एक सन्देह उठा, परन्तु दूसरे ही क्षण में दूर हो गया, जिस तरह वायु के प्रबल झोंके अभ्रखण्ड को उड़ा ले जाते हैं।

(२)

दूसरे दिन शिशुपाल को महाराज अशोक के दरबार में बुलाया गया। इस समाचार से गाँव भर में आग सी लग गई। यह वह समय था, जब महाराज अशोक का राज्य आरम्भ हुआ था और दमननीति का दौर दौरा था। उस समय महाराज ऐसे निर्दय और निठुर थे कि ब्राह्मणों और स्त्रियों को भी फाँसी पर चढा दिया करते थे। उनकी निष्ठुर दृष्टि से बडे-बडे वीरों के भी प्राण सूख जाते थे। लोगों ने समझ लिया कि शिशुपाल के लिये यह बुलावा मृत्यु का बुलावा है। सबको विश्वास हो गया कि अब शिशुपाल जीवित न लौटेंगे। परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के सम्बन्धियों पर दु ख का पहाड टूट पडा और वे फूट-फूटकर रोने लगे। लोग धीरज बँधाते थे, परन्तु शिशुपाल के माथे पर बल न था। वे कहते थे—"जब मैंने कोई अपराध नहीं किया, राज्य के किसी नियम का प्रतिरोध नहीं किया, तब कोई मुझे क्यों फाँसी देने लगा। निस्सदेह राजा ऐसा अन्यायी और अधम नहीं हो सकता कि निर्दोष ब्राह्मणों को दु ख देने लगे।" भय और आशका की लहरों के मध्य में वे इस

३

प्रतीत होती है, जैसे श्मशान में चाँदनी, वरन् उससे भी अधिक। शिशुपाल की आँखे नीचे झुक गई। उन्होंने थोडी देर बाद सिर ऊपर उठाया और कहा—"आजकल बडा अन्याय हो रहा है। जब देखता हूँ, मेरा रक्त उबलने लगता है।"

परदेसी ने पैंतरा बदलकर उत्तर दिया—"शेर-बकरी एक घाट पानी पी रहे हैं।"

"रहने दो, मैं सब जानता हूँ।"

"दोष निकालना सुगम है, परन्तु कुछ करके दिखाना कठिन है।"

शिशुपाल ने अग्नि पर पडे हुए पत्ते की नाई झुलसकर उत्तर दिया—"अवसर मिले, तो दिखा दूँ कि न्याय किसे कहते हैं।"

"तो आप अवसर चाहते हैं?"

"हाँ, अवसर चाहता हूँ।"

"फिर कोई अन्याय न होगा?"

"सर्वथा न होगा।"

"कोई अपराधी दण्ड से न बचेगा?"

"कदापि नहीं बचेगा।"

परदेसी ने सहज भाव से कहा—"यह बहुत कठिन है।"

"ब्राह्मण के लिये कोई कठिन नहीं। मैं न्याय का डंका बजाकर दिखा दूँगा।"

परदेसी के मुख पर मुस्कराहट थी, नेत्रों में ज्योति। उसने

गई। महाराज अशोक राजसी ठाठ से कमरे में दाखिल हुए और मुस्कराते हुए बोले—"ब्राह्मण देवता! आपने मुझे पहचाना?"

शिशुपाल घबराकर खड़े हो गये। इस समय उनका रोम-रोम काँप रहा था—ये वही थे।

(३)

हाँ, ये वही थे। शिशुपाल काँपकर रह गये। कौन जानता था कि शीतकाल की रात को एक ब्राह्मण के यहाँ आश्रय लेनेवाला परदेसी भारत का सम्राट् हो सकता है। शिशुपाल ने तुरन्त ही अपने हृदय को स्थिर कर लिया और कहा—"मुझे पता न था कि आप ही महाराज हैं, अन्यथा इतनी स्वतन्त्रता से बातचीत न करता।"

महाराज अशोक बोले—"हूँ।"

"परन्तु मैंने कोई बात गलत नहीं कही थी।"

"हूँ।"

"मैं प्रमाण दे सकता हूँ।"

महाराज ने कहा—"मैं नहीं चाहता।"

"तो मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

"मैं आपकी परीक्षा करना चाहता हूँ।"

शिशुपाल के हृदय में सहसा एक विचार उठा—"क्या वह सच हो जायगा?"

महाराज ने कहा—"आपने कहा था कि

प्रकार मौन खड़े थे, जैसे समुद्री चट्टान पानी के प्रहार में खडी रहती है। उन्होंने अपने पुत्र और स्त्री को समझाया, और पाटलिपुत्र की ओर चले।

साँझ हो गई थी, जब शिशुपाल पाटलिपुत्र पहुँचे, और जब राज महल मे पहुँचाए गए। उस समय तक उनको किसी बात का भय न था, परन्तु राज-महल की चमक-दमक देखकर उनपर भय छा गया, जिस प्रकार मनुष्य थोडे जल में निर्भय रहता है, परन्तु गहराई मे पहुँचकर घबरा जाता है। उनके हृदय मे कई प्रकार के विचार उठने लगे। कभी सोचते, किसी ने कोई शिकायत न कर दी हो। जो जी में आता है, बेधडक कह देता हूँ, कहीं इसका फल न भुगतना पडे, कई शत्रु हैं। कभी सोचते, वह परदेसी पता नहीं कौन था ? हो सकता है, कोई गुप्तचर ही हो और यह आग उसी की लगाई हो। तब तो उसने सब कुछ कह दिया होगा। कैसी मूर्खता की, जो एक अपरिचित से घुल मिलकर बातें करता रहा, अब पछता रहा हूँ। कभी सोचते, कदाचित् मेरी दरिद्रता की दु ख-कथा यहाँ तक पहुँच गई हो, और महाराज ने मुझे कुछ देने को बुला भेजा हो, यह भी तो हो सकता है। इस विचार से हृदय-कमल खिल जाता, परन्तु फिर दूसरे विचार से मुरझा जाता। इतने मे प्रतिहार ने आकर कहा—"महाराज आ रहे हैं।"

शिशुपाल का कलेजा धडकने लगा। उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्राण होठों तक आ गए हैं। राजा का कितना प्रताप होता है, इसका पहली बार अनुभव हुआ। दृष्टि द्वार की ओर जम

प्रकार वश में कर लिया था, जैसे सर्प को बीन बजाकर सँपेरा वश में कर लेता है। उन दिनों यह अवस्था थी कि लोग दरवाजे तक खुले छोड जाते थे, परन्तु किसी को अन्दर झाँकने का साहस न होता था। शिशुपाल का न्याय अन्धा और बहरा था, जो न सूरत देखता था, न सिफारिश सुनता था। वह केवल दंड देना जानता था और दंड भी शिक्षाप्रद। नगर की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर पड गया।

रात्रि का समय था। आकाश मे तारे खेलते थे। एक पुरुष ने एक विशाल भवन के द्वार पर आवाज दी। झरोखे से किसी स्त्री ने सिर निकालकर पूछा—"कौन है?"

"मैं हूँ, दरवाजा खोल दो।"

"परन्तु वे यहाँ नहीं हैं।"

"परवा नहीं, तुम दरवाजा खोल दो।"

स्त्री ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"मैं नहीं खोलूँगी, तुम इस समय जाओ।"

उस व्यक्ति ने क्रोध से कहा—"दरवाजा खोल दो, नहीं तो मैं तोड़ डालूँगा।"

स्त्री ने उत्तर दिया—"जानते नहीं हो, नगर में शिशुपाल का राज्य है। अब कोई इस प्रकार बलात्कार नहीं कर सकता।"

[illegible] रवाजे पर आक्रमण किया।

सहसा [illegible] मका हाथ थाम लिया, और

दिया जाय, तो मैं न्याय का डंका वजा दूँगा। मै आपके इस कथन की परीक्षा करना चाहता हूँ। आप तैयार हैं ?"

शिशुपाल ने हँस की तरह गर्दन ऊँची की और कहा—"हाँ, यदि महाराज की यही इच्छा है, तो मैं तैयार हूँ।"

"कल प्रात काल से तुम न्याय-मन्त्री नियत किये जाते हो। सारे नगर पर तुम्हारा अधिकार होगा।"

"बहुत अच्छा।"

"पाटलिपुत्र की पुलीस का प्रत्येक अधिकारी तुम्हारे आधीन होगा, और शान्ति रखने का उत्तरदायित्व केवल तुम्हीं पर होगा"

"बहुत अच्छा।"

"यदि कोई दुर्घटना हो गई, अथवा कोई हत्या हो गई, तो इसका उत्तरदायित्व भी तुमपर होगा।"

"बहुत अच्छा।"

महाराज थोड़ी देर चुप रहे और फिर हाथ से अँगूठी उतार कर बोले—"यह राजमुद्रा है। तुम कल प्रात काल की पहली किरण के साथ न्याय-मन्त्री समझे जाओगे। मैं देखूँगा, तुम अपने आपको किस प्रकार सफल शासक सिद्ध कर सकते हो।"

(४)

एक मास व्यतीत हो गया। न्याय-मत्री के न्याय और सुप्रबन्ध की चारों ओर धूम मच गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे शिशुपाल ने नगर पर जादू डाल दिया है। उन्होंने चोर-डाकुओं को इस

इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु घाव मर्म-स्थान पर लगा। उसने पहरेदार की लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रात काल इस घटना की घर-घर मे चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलीस के कर्मचारी को मार डाले, और फिर शिशुपाल के शासन मे। राजधानी मे आतङ्क छा गया। पुलीस के आदमी चारो ओर दौडते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो, और न्याय मन्त्री ने तो इस मामले की खोज मे दिन रात एक कर दिया। यह घटना उनके शासन काल मे पहली थी। उनको खाना पीना भूल गया, आँखों से नींद उड गई। घातक की खोज में उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने जोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया? न्याय मत्री लज्जा से सिर ... लेते। महाराज पूछते—"घातक कब तक पकडा ... न्त्री उत्तर देते—"यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही ... राज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते—"हत्यारा ... न्त्री कहते—"अभी नहीं।" महाराज का ... की आँखो से आग की चिनगारियाँ

धनी ने उसकी ओर इस तरह देखा, जैसे भेड़िया भेड़ को देखता है, और क्रोध से बोला—"तुम कौन हो ?"

"मैं पहरेदार हूँ।"

"तुमको इस पद पर किसने नियत किया है?"

"न्याय-मन्त्री ने।"

"मूर्खता न करो। मैं उसे भी मिट्टी में मिला सकता हूँ।"

पहरेदार ने साहस से उत्तर दिया—"परन्तु इस समय महाराज अशोक आ जायँ, तो भी न टलूँगा।"

"क्यों अपनी मृत्यु को बुला रहे हो ?"

"मैंने जो प्रण किया है, उसे पूरा करूँगा।"

"किससे प्रण किया है ?"

"न्याय-मन्त्री से।"

"क्या ?"

"यही कि जब तक तन में प्राण हैं और जब तक रुधिर का अन्तिम बिन्दु भी मेरे शरीर में शेष है, मैं अपने कर्त्तव्य से कभी पीछे न हटूँगा।"

उस व्यक्ति ने तलवार खींच ली। पहरेदार ने पीछे हटकर कहा—"आप गलती कर रहे हैं। मैं नौकरी पर हूँ।"

परन्तु उस पुरुष ने सुना-अनसुना कर दिया और तलवार लेकर झपटा। पहरेदार ने भी तलवार खींच ली। परन्तु वह अभी नया था, पहले ही वार में गिर गया, और मारा गया। उस पुरुष का लहू सूख गया। उसके हाथों के तोते उड़ गये। उसकी यह

इच्छा न थी कि पहरेदार को मार दिया जाय। वह उसे केवल डराना चाहता था, परन्तु घाव मर्म-स्थान पर लगा। उसने पहरेदार की लाश को एक ओर कर दिया और आप भाग निकला।

(५)

प्रातःकाल इस घटना की घर-घर मे चर्चा थी। लोग हैरान थे कि इतना साहस किसे हो गया कि पुलीस के कर्मचारी को मार डाले, और फिर शिशुपाल के शासन मे! राजधानी मे आतङ्क छा गया। पुलीस के आदमी चारो ओर दौड़ते फिरते थे, मानो यह उनके जीवन और मरण का प्रश्न हो, और न्याय मन्त्री ने तो इस मामले की खोज मे दिन रात एक कर दिया। यह घटना उनके शासन-काल मे पहली थी। उनको खाना पीना भूल गया, आँखों से नींद उड़ गई। घातक की खोज मे उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी, परन्तु कुछ पता न लगा।

असफलता का प्रत्येक दिन अशोक की क्रोधाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर रहा था। वे कहते, तुमने कितने जोर से न्याय का दावा किया था, अब क्या हो गया? न्याय मन्त्री लज्जा से सिर झुका लेते। महाराज पूछते—"घातक कब तक पकड़ा जायगा"। न्याय-मन्त्री उत्तर देते—"यत्न कर रहा हूँ, जल्दी ही पकड़ लूँगा।" महाराज कुछ दिन ठहरकर फिर पूछते—"हत्यारा पकड़ा गया?" न्याय-मन्त्री कहते—"अभी नहीं।" महाराज का क्रोध भड़क उठता। उनकी आँखों से आग की चिनगारियाँ

निकलने लगतीं, बादल के समान गर्जकर बोलते—"मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तग आ गया हूँ।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—"तुम्हे तीन दिन की और अवधि दी जाती है। यदि इस बीच मे भी घातक न पकडा गया, तो तुम्हे फॉसी दे दी जायगी।"

इस समाचार से नगर मे हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर अन्दर शिशुपाल लोकप्रिय हो चुके थे। उनकी न्यायशीलता की चारों ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियॉ देने लगे। जहॉं चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बाल बॉका न हो। शिशुपाल स्वय बडी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहॉं तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घटे बाकी थे।

रात्रि का समय था, शिशुपाल की ऑंखों मे नींद न थी। वे नगर के एक घने बाजार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिडकी खुली, और एक स्त्री ने झॉंककर बाहर देखा। चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—"तुम कौन हो? पहरेदार!"

निराशा के अधकार में आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।"

"जरा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिड़की से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाजे पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और शान्ति से उत्तर दिया—"हां, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तिलमिलाकर खड़ी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह में प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"तो सब कुछ बता दो।"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की तरह चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल रखने को स्थान न था। आज न्याय मन्त्री का भाग्य निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही पुकारा—"न्याय मन्त्री!"

शिशुपाल सामने आए। इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई घबराहट न थी।

महाराज ने पूछा—"हत्यारे का पता चला?"

न्यायमत्री ने साहस पूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, चल गया।"

"पेश करो।"

न्याय मत्री ने सिर झुकाकर कुछ सोचा। इस समय उन

निकलने लगतीं, बादल के समान गर्जकर बोलते—"मैं यह 'नहीं' सुनते-सुनते तग आ गया हूँ।"

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया, परन्तु हत्यारे का पता न लगा। अन्त में महाराज ने शिशुपाल को बुलाकर कहा—"तुम्हे तीन दिन की और अवधि दी जाती है। यदि इस बीच में भी घातक न पकडा गया, तो तुम्हे फाँसी दे दी जायगी।"

इस समाचार से नगर मे हलचल-सी मच गई। एक ही मास के अन्दर-अन्दर शिशुपाल लोकप्रिय हो चुके थे। उनकी न्यायशीलता की चारो ओर धाक बँध गई थी। लोग महाराज को गालियाँ देने लगे। जहाँ चार मनुष्य इकट्ठे होते, इसी विषय पर बातचीत करने लगते। वे चाहते थे कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु शिशुपाल का बाल् बाँका न हो। शिशुपाल स्वय बडी उत्सुकता के साथ घातक की खोज में लीन थे, परन्तु व्यर्थ। यहाँ तक कि तीसरा दिन आ गया। अब कुछ ही घटे बाक़ी थे।

रात्रि का समय था, शिशुपाल की आँखों में नींद न थी। वे नगर के एक घने बाजार के अन्दर घूम रहे थे। सहसा एक मकान की खिडकी खुली, और एक स्त्री ने झाँककर बाहर देखा। चारो ओर निस्तब्धता छाई हुई थी। स्त्री ने धीरे से कहा—"तुम कौन हो? पहरेदार!"

निराशा के अधकार मे आशा की एक किरण चमक गई। शिशुपाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं न्याय-मन्त्री हूँ।"

"ज़रा यहीं ठहरो।"

स्त्री खिडकी से पीछे हट गई और दीपक लेकर दरवाजे पर आई। न्याय-मन्त्री को साथ लेकर वह अपने कमरे में गई और बोली—"आज अन्तिम रात्रि है ?"

न्याय-मन्त्री ने चुभती हुई दृष्टि से स्त्री की ओर देखा और शान्ति से उत्तर दिया—"हा, अन्तिम।"

शब्द साधारण थे, परन्तु इनका अर्थ साधारण न था। स्त्री तिलमिलाकर खडी हो गई और बोली—"मैं इस घटना को अच्छी तरह जानती हूँ।"

शिशुपाल की मृतप्राय देह मे प्राण आ गये, धैर्य धरकर बोले—"तो सब कुछ बता दो।"

स्त्री ने उनके कान में कुछ कहा और सहमी हुई कबूतरी की तरह चारों ओर देखा।

(६)

दूसरे दिन दरबार में तिल रखने को स्थान न था। आज न्याय मन्त्री का भाग्य निर्णय होने को था। अशोक ने सिंहासन पर पैर रखते ही पुकारा—"न्याय-मन्त्री !"

शिशुपाल सामने आए। इस समय उनके मुख पर कोई चिन्ता, कोई घबराहट न थी।

महाराज ने पूछा—"हत्यारे का पता चला ?"

न्यायमंत्री ने साहस पूर्वक उत्तर दिया—"हाँ, चल गया।"

"पेश करो।"

न्याय मंत्री ने सिर झुकाकर कुछ सोचा। इस समय

हृदय मे दो विरोधी शक्तियो का संग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होने दृढ संकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर !"

"श्रीमन् !"

"गिरफ्तार कर लो, मै आज्ञा देता हूँ।"

सकेत राजा की ओर था, दरबार में निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ तॉबा हो। नेत्रो से अग्नि-कण निकलने लगे। वे तिलमिलाकर खडे हो गए और बोले—"अरे ब्राह्मण ! अब तुझे यहॉ तक साहस हो गया !"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नहीं और अपने शब्दो को फिर दोहराया—"मैं आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो। हत्यारा यही है।"

धनवीर पुतली की तरह आगे बढा। दरबारियो का दम रुक गया। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मन्त्री ने कहा—"यह हत्यारा है। मेरी अदालत मे पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकडी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।

महाराज अशोक ने सकेत किया, मन्त्रीगण पीछे हट गए। महाराज उस जगले में खडे हो गए, जो अपराधियो के लिये नियत

था। किसी छत्रपति नरेश का अपने राज्य में [illegible]
के हाथों यह सम्मान हो सकता है, यह [illegible]
परन्तु शिशुपाल दृढ़ संकल्प के साथ न्यायासन [illegible]
उन्होंने आँख से महाराज को प्रणाम किया। [illegible]
ने बाँध रक्खा था। वे धीरे से बोले—"तुम्हारे ऊपर [illegible]
का अभियोग है। तुम इसका क्या उत्तर देते हो?"

महाराज अशोक ने होंठ काटकर उत्तर दिया—"[illegible]"

"तो तुम अपराध स्वीकार करते हो।"

"हाँ, मैंने उसको मारा है, परन्तु मैंने जान बूझकर [illegible]"

"वह उद्दंड नहीं था। मैं उसे [illegible]"

"वह उद्दंड था।"

हृदय मे दो विरोधी शक्तियो का सग्राम हो रहा था। यह उनके मुख से स्पष्ट प्रतीत होता था। सहसा उन्होने दृढ सकल्प से सिर उठाया और अपने एक उच्च अधिकारी को लक्ष्य करते हुए कहा—"धनवीर।"

"श्रीमन्।"

"गिरफ्तार कर लो, मै आज्ञा देता हूँ।"

सकेत राजा की ओर था, दरबार मे निस्तब्धता छा गई। अशोक का चेहरा लाल हो गया, मानो वह तपा हुआ ताँबा हो। नेत्रो से अग्नि-कण निकलने लगे। वे तिलमिलाकर खडे हो गए और बोले—"अरे ब्राह्मण! अब तुझे यहाँ तक साहस हो गया!"

न्याय-मन्त्री ने ऐसा प्रकट किया, मानो कुछ सुना ही नही और अपने शब्दो को फिर दोहराया—"मै आज्ञा देता हूँ, गिरफ्तार कर लो। हत्यारा यही है।"

धनवीर पुतली की तरह आगे बढा। दरबारियो का दम रुक गया। महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये। न्याय-मत्री ने कहा—"यह हत्यारा है। मेरी अदालत मे पेश करो।"

धनवीर ने अशोक को हथकडी लगा ली और शिशुपाल की कचहरी की ओर ले चला। वहाँ सारा नगर उपस्थित था। शिशुपाल ने आज्ञा दी—अपराधी राजकुल से है, अतएव अकेला पेश किया जाय।

महाराज अशोक ने सकेत किया, मन्त्रीगण पीछे हट गए। महाराज उस जगले में खडे हो गए, जो अपराधियो के लिये नियत

हो गए। वे कहते थे, यह मनुष्य नहीं, देवता है, जो न किसी व्यक्ति से डरता है, न किसी शक्ति के आगे सिर झुकाता है। अन्त करण की आवाज सुनता है और उसपर निर्भयता से बढा चला जाता है। और कोई होता तो महाराज के सामने हाथ बाँधकर खडा हो जाता। परन्तु इसने उन्हे "तुम" कहकर सम्बोधित किया है, मानो कोई साधारण अपराधी हो। उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। सहस्रों नेत्रो ने आनन्द के आँसू बहाये और सहस्रो जिह्वाओं ने जोर जोर से कहा—"न्याय-मन्त्री की जय।"

रात हो गई थी, न्याय-मन्त्री राजमहल मे पहुँचे और अशोक के सम्मुख अगूठी और मुद्रा रखकर बोले—"महाराज! यह अपनी वस्तुए सँभालें। मैं अपने गाँव वापस जाऊँगा।"

अशोक ने सम्मान-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखकर कहा—"आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है?"

"परन्तु श्रीमन् ।"

अशोक ने बात काटकर कहा—'आपका साहस और न्याय मैं कभी न भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे अपने कोई दूसरा व्यक्ति इस पद के योग्य नजर नहीं आता।"

। निरुत्तर हो गये।

—सुदर्शन

"अशोक! तुमने एक राजकर्मचारी की हत्या की है। मैं तुम्हारे वध की आज्ञा देता हूँ।"

महाराज ने सिर झुका दिया। इस समय उनके हृदय में ब्रह्मानन्द का समुद्र लहरें मार रहा था। सोचते थे—यह मनुष्य सोना है, जो अग्नि मे पडकर कुन्दन हो गया है। कहता था, मेरा न्याय अपनी धूम मचा देगा, वह वचन झूठ न था। इसने अपने कहने की लाज रख ली। ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनपर जातियाँ अभिमान करती है, जिन पर लोग अपना तन-मन निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। उन्होंने एक विचित्र भाव से सिर ऊँचा किया और उपेक्षापूर्वक कहा—"मैं इस निर्णय के विरुद्ध कुछ नहीं बोल सकता।"

न्यायमन्त्री ने एक कर्मचारी को हुक्म दिया। वह एक स्वर्ण-मूर्ति लेकर उपस्थित हुआ। न्याय-मत्री ने खडे होकर कहा—"महाशयो! यह सच है कि मैं न्याय-मत्री हूँ। यह भी सच है कि मेरा काम न्याय करना है। यह भी सच है कि एक राजकर्मचारी की हत्या की गई है। उसका दड अवश्यम्भावी है, परन्तु शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप माना गया है। उसे ईश्वर ही दड दे सकता है। यह काम न्याय-मन्त्री की शक्ति से बाहर है। अतएव मैं आज्ञा देता हूँ कि महाराज को चेतावनी देकर छोड दिया जाय और उनकी यह मूर्ति फाँसी पर लटकाई जाय, जिससे लोगों को शिक्षा मिले।"

न्याय मन्त्री का जय-जयकार हुआ, लोग इस न्याय पर मुग्ध

बाबू—"बच्चों की प्यारी प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा हो, प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न जाने किस धातु बना हुआ है।"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है, र वैसा बच्चा भी तो हो। पराए धन से भी कहीं घर भरता है।"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा ोजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं सम ा कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोली—"बातें बनाना बहुत ता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो, पर ; ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं। नहीं ये दिन काहे को देखने पडते। तुम्हारा चलन तो दुनिया से ाला है। आदमी सन्तान के लिये न जाने क्या क्या करते हैं— ा पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हे इन बातों से क्या ? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। ोंने कहा—"पूजा पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य हीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआंसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ो सब चौपट कर रक्खा है। ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ ां, तो ... चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी

को उनकी गोद मे बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल मे नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर ?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पडा। शरीर मे तो चोट नहीं लगी, पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पडा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाडी ला देने का वचन देकर छोड दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है ? बच्चे को ढकेल दिया। जो उसके चोट लग जाती, तो ?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोली—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यो मेरी खोपडी पर लादे देते थे ? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और अब आप ही ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढकर बोले—"इसी को खोपडी पर लादना कहते हैं ?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं ? तुम्हे तो अपने आगे और किसी का दुःख सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हे इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थी। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मा के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिल्कुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म पत्र में संतान का जोग है, और उपाय करने से संतान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे, पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया-भर के झूठे और धूर्त हैं। ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोली—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा

काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं।। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हे अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच मे घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखो में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ ? इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा ?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाई। नाम सतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके ? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी सतान ही की बदौलत चल रहा है ? सच पूछो, तो सतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की भी सभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशका रहती ही नहीं। हमारे शहर मे राय गिरिधारीलाल कितने नामी आदमी थे ? उनके सतान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती ?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है ? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है ? ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी ?"

है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती ही नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। सभव है, वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकाश झूठे होते हैं। उन्हे ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी मोटी पुस्तकें पढकर ज्योतिषी बन बैठते और लोगो को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातो पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बडे सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में संतान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकडा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय मे सतान का मुख देखने की इच्छा न हो। परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा, जो बात अपनी सतान से होती, वही भाई की सतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इनपर भी है। जो आनन्द उनकी बाल क्रीडा से आता, वही इनकी क्रीडा से भी आ रहा है। फिर मै नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय मे वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमे बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परतु जब उन्हे ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के है, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पति देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उडते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हे-नन्हे मुख, उनकी प्यारी प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीडाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौडा। वह खिलखिलाती हुई दौडकर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे पीछे मनोहर भी दौडता हुआ आया, और

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।"

(३)

मनुष्य का हृदय बडा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी से भद्दी और बिल्कुल काम मे न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यो न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दु:ख का अनुभव नहीं करता, इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दु:ख होता है, इसलिए कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा मे भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोडता, अथवा अपने हृदय में यह विचार दृढ नही कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ

क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी सतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी सतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितात शुद्ध हृदय से कही थी, परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यग्य की तीक्ष्ण गध मालूम हुई। उन्होंने कुढ-कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पडी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारिक रहे। निगोडे आप ही आ आके घुमते हैं। एक घर में रहने से कभी कभी हँसना बोलना ही पडता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उसपर तुमने सैकडो बातें सुनाईं। सकट मे प्राण हैं—न यों चैन, न वो चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बडा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है।

वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेप भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चो के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बडी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बडी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गइ।

"मनोहर, ले रेलगाडी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तडपकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया फिर बैठकर रेलगाडी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहे तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय मे फिर वही घृणा और द्वेप का भाव जाग उठा।

बच्चों को रेलगाडी देकर बाबू साहब राश्वमेरी के पास आए, और मुसकिराकर बोले—आज तो तुम बच्चों को बडा प्यार कर रही थीं। इसस मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हे अपनी कमजोरी पर बडा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर

क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी, परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़-कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारिक रहे! निगोड़े आप ही आ आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी कभी हँसना बोलना ही पड़ता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उसपर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं—न यों चैन, न वो चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है।

अभी अच्छी खासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रङ्ग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न जाने मेरी बातों मे कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा, पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय मे निगोडे-सिगोडे इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चो पर बढता जाता था, वैसे ही वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढती जाती थी। प्राय बच्चों के पीछे पति-पत्नी मे कहा सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पडते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नजर से गिरती जा रही है, तब उनके हृदय में बडा तूफान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चो के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये ये बच्चे ही सब कुछ है, मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनो को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पडते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर मटियामेट कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार

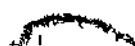
रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय मे अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वय उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थी कि मनोहर दौडता हुआ आया। मनोहर को देखकर भ्रकुटी चढ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खडी हो गई।

सन्ध्या का समय था। आकाश मे रग-बिरङ्गी पतगें उड रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खडा पतगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतग गिरने की आशा करने के बाद वह दौडकर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगो में लिपटकर बोला—"ताई, हमे पतग मँगा दो।" रामेश्वरी ने झिडककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोडी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बडे लाड मे आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—"ताई, पतग मँगा दो, हम भी उडावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती



रहीं। फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़ मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवावेंगे।"

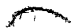
यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है, कि बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार में सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने

पतग को छज्जे पर जाते देखा। पतग पकड़ने के लिये वह दौडकर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खडी देखती रही। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया, और उनसे दो फीट की दूरी पर खडा होकर पतग को देखने लगा। पतग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन मे, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा, परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथो में मुडेर आ गई। वह उसे पकडकर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धडकते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वह एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की यह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकडने के लिये अपना हाथ बढाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।



रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पडी रहीं। कभी-कभी वह जोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौडो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करती।

मनोहर की टाँग उखड गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमश फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ'।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झडी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गई। अब मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पडती।

—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अचल मे समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जय घोष हुआ, भीड में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पडा। हर्ष और उत्साह का वह समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढने लगा।

प्रभात की हेम किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण मल्लिका के समान बरस पडा। मगल-सूचना से जनता ने हर्ष ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पक्ति जम गई। दर्शको की भीड भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मगल-कलश और फूल, कुकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढे।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहित वर्ग ने

स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र पूजन की धूम-धाम होती, गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव मे आकर बड़े चाव से योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों मे गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज का बीज देने मे उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग

महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कौतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह ! कितना भोला सौन्दर्य ! कितनी सरल चितवन !

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्त्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव ! यह मेरे पितृ पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध ! क्या बक रही है ? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार ! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है, फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर ! महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मंत्री ने कहा—"देव !

वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!" सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मन्त्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिये चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक, अर्थात भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार सघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल

रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा, तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिये। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छि, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान "

"क्यो आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?"

वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!" सविनय मंत्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मन्त्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिये चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक, अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष-भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल

रही थीं, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा, तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिये। परन्तु कोकिल बोल उठी। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छि, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान   "

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है ! अपरिचित, क्षमा करो ! जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी "

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दन विहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ। मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों मे उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वय आहत न हुई ? उसके

हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान-अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक के वृक्ष के नीचे एक छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अङ्ग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था, ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों के

सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था ?" दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा मे वह कहने का साहस करता ? हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिये विकल थी। असहाय दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डठलों के रन्ध्रो से नीचे नभ में—बिजली के आलोक मे—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाडी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या मे जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका 'अभी वह, वह निकल गया', मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गडगडाहट बढने लगी। ओले पडने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपडी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोडे की डोर पकडे खडा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका ?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई, "इतने दिनों के बाद आज फिर ?"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु "

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका ! यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

× × × ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता हो।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते हैं। अब तो तुम × × ×।"

"तीन वरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिये ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में विताये ! आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यो ? अच्छा, अच्छा, तुम्हे मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिये।"

"मूर्खे ! फिर क्या चाहिये ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जङ्गली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके ! वह बडी ऊबड-खाबड भूमि है। तिसपर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ ?"

"सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ ? तुम्हारी यह प्रार्थना ।"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव !" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका मन्दिर के बाहर आई।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले जङ्ग

आज वहाँ मनुष्यों के पद संचार से शून्यता
अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर
झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दू
यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महा
वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था
चिन्ता थी ?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक
नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस
नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़
अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सू
किरणें झुरमुट से घुसकर मधूलिका के कपोलों से
अरुण ने कहा—"चार पहर और विश्वास करो
इस जीर्ण कलेवर-कोशल राष्ट्र की राजधानी श्राव
अभिषेक होगा, और मगध से निर्वासित मैं एक
अधिपति बनूँगा, मधूलिके!"

"भयानक! अरुण! तुम्हारा साहस देखकर मैं
हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम ——"

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी, म

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

मधूलिका प्रसन्न थी, किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिये। इसलिए रात्रि-भर के लिये विदा।"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों में उलझती हुई, क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

× × × ×

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। पहला भय उसे अरुण के लिये उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर-शत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल नरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या!" सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़ बुन में विक्षिप्त सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्त्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा, वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्राय एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को शीघ्र उत्तर दे।"

रमणी जैसे विकारग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो। मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली ! नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह।"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढने की आज्ञा दी और स्वय बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढे। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

× × ×

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोडे-से अश्वारोही बडे वेग से आते हुए दुर्ग द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोडे की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्नि-सेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे ?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हे शीघ्र एकत्र करो, परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का सकेत कर सेनापति राज-मन्दिर की ओर

पड़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर दूँ।"

× × × ×

दुष्यन्त—(आप ही-आप) अहा ! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है, जैसा पुत्र मे होता है। हो न हो, यह हेतु है कि मै पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू बच्चे को छोड न देगा, तो यह सिंघनी तुझपर दौडेगी।

बालक—(मुसकाकर) ठीक है, सिंघनी का मुझे ऐसा ही डर है।

[मुँह चिढाता है]

दुष्यन्त—

दोहा—दीखत बालक मोहि यह तेजस्वी बलबीर।
काठ काज जैसे अगिनि ठाड़ो है मतिधीर॥

पहली तपस्विनी—हे प्यारे बालक ! तू सिंघ के बच्चे को छोड दे, मैं तुझे और खिलौना दूँगी।

बालक—कहाँ है ? ला, दे दे।

[हाथ पसारता है]

दुष्यन्त—(लड़के के हाथ को देखकर) इस के तो लच्छन भी चक्रवर्तियों के-से हैं, क्योंकि—

दोहा—माँगि खिलौना लैन को जबहि पसार्‍यो हाथ।
जालगुँथी-सी आँगुरी सब दीसीं एक साथ॥
मनहुँ खिलायो कमल कछु प्रात अरुण ने आय।
नैक न पखुरिन बीच में अन्तर परत लखाय॥

दूसरी तपस्विनी—हे सुव्रता ! यह बातों से न मानेगा। जा, मेरी

कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषि-कुमार मारकंडेय के खेलने का रक्खा है, उसे ले आ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिये आती हूँ।

[जाती है]

बालक—तब तक मैं इस सिंघ के बच्चे से खेलूँगा।

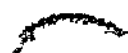
[यह कहकर तपस्विनी की ओर हँसता है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसके खिलाने को मेरा जी कैसा ललचाता है।

घनाक्षरी

हाँसी बिन हेत माहिं दीखति बतीसी कछु,
निकसी मनो हे पाँति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात टूटि सी निकसि जात,
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की॥
गोद तें न प्यारी और भावे मन कोई ठाँव,
दौरि-दौरि बैठें छोडि भूमि अँगनान की।
धन्य धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात,
कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुवनान की॥

दूसरी तपस्विनी—यह मेरी बात तौ कान नहीं धरता (इधर उधर देखकर) कोई ऋषिकुमार यहाँ है? (दुष्यन्त को देखकर) हे महात्मा, तुम्हीं आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंघ के बच्चे को छुड़ाओ।



यह इसे खेल मे ऐसा पकड रहा है कि छुडाना कठिन है।

दुष्यन्त—अच्छा।

[लडके के पास जाकर और हँसकर]

चौपाई

आश्रम-वासिन की यह रीती। पशु-पालन मे राखत प्रीती॥
सो ऋषि-सुत दूषित तैं कीनी। उलटी वृत्ति यहाँ क्यो लीनी॥
करत जन्म ही तें ये काजा। जो नहिं सोहत मुनिन-समाजा॥
तैं यह कियो तपोवन ऐसो। कृष्ण सर्प-शिशु चन्दन जैसो॥

दूसरी तपस्विनी—हे वडभागी ! यह ऋषिकुमार नहीं है।

दुष्यन्त—सत्य है, यह तो इसके आकार सदृश काम ही कहे देते हैं, परन्तु मैंने तपोवन मे इसका वास देख ऋषिपुत्र जाना था। (जैसी मन मे लालसा है, लडके का हाथ अपने हाथ मे लेकर आप ही आप) अहा !

दोहा—ना जानूँ का वश कौ अकुर यहै कुमार।
मो तन ऐसौ सुख भयो जाहि छुअत एक बार॥
वा वड़-भागी के हिये किती न होय उमग।
उपज्यो जाके अग तें ऐसो याको अग॥

तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) वडे अचभे की बात है।

दुष्यन्त—तुमको क्यो अचभा हुआ ?

तपस्विनी—इसीलिये हुआ कि इस बालक की और तुम्हारी उनहार

बहुत मिलती है, और तुम्हें जाने बिना भी इसने तुम्हारा कहना मान लिया।

दुष्यन्त—(लड़के को खिलाता हुआ) हे तपस्विनी ! जो यह ऋषि-पुत्र नहीं, तो किसका वश है ?

तपस्विनी—यह पुरुवंशी है।

दुष्यन्त—(आप ही-आप) यह हमारे वश में कैसे हुआ और इस भगवती ने मेरी उनहार का इसे क्यों कहा—हाँ, पुरुवंशियों की यह रीति तो निश्चय है कि—

दोहा—छिति पालन के कारने पहले लेत निवास।
जाय भवन ऐसेन में जहँ सब भोग-बिलास ॥
पाछें बन में बसत हैं लै तरवर की छाँह।
इन्द्री जीतन को नियम धरि एकहि मन माँह ॥

(प्रगट) परन्तु यह स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य अपने बल से आ सके।

दूसरी तपस्विनी—तुम सच कहते हो, इसकी मा मेनका नाम अप्सरा की बेटी है, उसी के प्रताप से इसका जन्म देवपितर के इस तपोबन में हुआ है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह दूसरी बात आशा उपजानेवाली हुई। (प्रगट) भला, इसकी मा किस राजर्षि की पत्नी है ?

दूसरी तपस्विनी—जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अपराध छोड़ दिया, उसका नाम कौन लेगा ?



दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कथा तो मुझी पर लगती है। अब इस बालक की मा का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु पराई स्त्री का वृत्तान्त पूछना अन्याय है।

(तपस्विनी मिट्टी का मोर लिये हुए आती है)

तपस्विनी—हे सर्वदमन! यह शकुन्तलावण्य देख।

बालक—(बडे चाव से देखकर) कहाँ है शकुन्तला मेरी मा ?

दोनों तपस्विनी—यह मा के प्यारे नाम से धोखा खा गया।

दूसरी तपस्विनी—मुन्ना, मैंने तो यह कहा था कि इस मिट्टी के सुन्दर मोर को देख।

दुष्यन्त—(आप ही आप) क्या इसकी मा का नाम शकुन्तला है ? हुआ करो, एक नाम के अनेक मनुष्य होते हैं। कहीं मुझे दु ख देने को नाम का उच्चारण ही मृगतृष्णा न बनाया हो।

बालक—मुझे यह मोर बहुत अच्छा लगता है।

[खिलौने को लेता है]

पहली तपस्विनी—(घबडाकर) हाय! हाय! इसकी बाँह से रक्षाबंधन कहाँ गया ?

दुष्यन्त—घबडाओ मत, जब यह नाहर के बच्चे से खेल रहा था, इसके हाथ से गडा गिर गया, सो यह पडा है।

[गडा उठाने को झुकता है]

दोनो तपस्विनी—मत उठाओ, मत उठाओ। हाय! इसने क्यों उठा लिया ?

(दोनों अचभे से छाती पर हाथ रखकर एक-दूसरी की ओर देखती हैं)

दुष्यन्त—तुमने मुझे इसके उठाने से किसलिये बरजा ?

दूसरी तपस्विनी—सुनो महाराज! इस गडे का नाम 'अपराजित' है, जिस समय इस बालक का जातकर्म हुआ, महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने यह दिया था। इसमे यह गुन है कि कदाचित् धरती पर गिर पडे, तो इस बालक को और इसके मा-बाप को छोड और कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और कोई उठा ले तो ?

पहली तपस्विनी—तो यह तुरत साँप बनकर उसे डसता है।

दुष्यन्त—तुमने ऐसा होते कभी देखा है ?

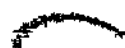
दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप ही-आप) अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ, मैं क्यों आनद न मनाऊँ।

[लड़के को गोद मे लेता है]

दूसरी तपस्विनी—आओ सुव्रता, यह सुख का समाचार चलके शकुन्तला को सुनावें, वह बहुत दिन से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

[दोनों जाती



बालक—मुझे छोडो, मैं अपनी मा के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र ! तू मेरे सग चलकर अपनी मा को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तौ दुष्यन्त है, तुम नहीं हो।

दुष्यन्त—(मुसकाकर) यह विवाद भी मुझे प्रतीति कराता है।

(एक वेनी धारण किये शकुन्तला आती हे)

शकुन्तला—(आप ही आप) मैं सुन तौ चुकी हूँ कि सर्वदमन के गडे ने अवसर पाकर भी रूप न पलटा, परन्तु अपने भाग्य का मुझे कुछ भरोसा नहीं। हाँ, इतनी आशा है कि कदाचित् सानुमती का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देखकर) अहा ! यही प्यारी शकुन्तला है।

दोहा—नियम करत बीते दिवस दूबर अग लखात।
सीस एक बेनी धरे बसन धूसरे गात॥
दीरघ विरहाव्रत सती साधति सुख विसराय।
मो निरदय के कारने अपने शील सुभाय॥

शकुन्तला—(पछताने में रूप बिगडे हुए राजा को देखकर) यह तौ मेरा पति सा नहीं है, और जो नहीं है, तौ कौन है, जिसने रक्षाबधन पहने हुए मेरे बालक को अग लगा-के दूषित किया।

बालक—(दौडता हुआ माता के पास जाकर) माता ! यह पुरुष कौन है, जिसने पुत्र कहकर मुझे गोद मे ले लिया।

दुष्यन्त—हे प्यारी, मैंने तेरे साथ निठुराई तौ बहुत की, परन्तु

परिणाम अच्छा हुआ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि तैंने मुझे पहचान लिया।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन ! तू धीरज धर, अब मुझे भरोसा हुआ कि विधाता ने ईर्षा छोड़ मुझपर दया की है। (प्रगट) यह तो निश्चय मेरा ही पति है।

दुष्यन्त—हे प्यारी !

दोहा—सुधि आई सब भ्रम मिट्यो सफल भए मम काज।
धन्य भाग सुमुखी लखूँ सनमुख ठाडी आज॥
अधकार मिटि ग्रहण कौ दूर होत जब सोग।
तुरत चद्र सों रोहिनी करति आय सयोग॥

शकुन्तला—महाराज की—

[इतना कहकर गद्गद् बानी हो आँसू गिराती है]

दुष्यन्त—

दोहा—यदपि शब्द 'जय' कठ में आँसुन रोक्यो आय।
पै न कछू शका रही मैं लीनी जय पाय॥
दरसन तौ मुख कौ भयो सुमुखी मोहि रसाल।
बिना लखोटा हू लगे अधर-ओठ अति लाल॥

बालक— हे मा ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ।

दुष्यन्त— (शकुन्तला के पैरों में गिरता है)

दोहा—मन तें प्यारी दूर अब डारि बिलग अपमान।
वा छिन मेरे हिय रह्यो प्रबल कछू अज्ञान॥

तामस-बस गति होति यह बहुतन की सुखबार।
फेंकत जिमि अहि जानिके अंध दियो गलहार॥

शकुन्तला—उठो प्राणपति, उठो। उन दिनों मेरे पूर्व जन्म के पाप उदय हुए थे, जिन्होंने सुकर्मों का फल मेट मेरे दयावान पति को मुझसे निस्नेह कर दिया। (राजा उठता है) अब यह कहो कि मुझ दुखिया की सुध तुम्हें कैसे आई?

दुष्यन्त—जब संताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा, तब सब कहूँगा।

दोहा—देखी अनदेखी करी मैं वा दिन भ्रम पाय।
तेरी आँसू-बूँद जो परी अधर पै आय॥
सो पछतायो आज मैं पदमिनि लेहुँ मिटाय।
या आँसू कों पोछि जो रह्यो पलक तो छाय॥

[आँसू पोंछता है]

शकुन्तला—(राजा की अगुली में अँगूठी देखकर) क्या यह वही मुदरी है?

दुष्यन्त—हाँ, इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि जब मैं अपने स्वामी को प्रतीत कराती थी, यह दुर्लभ हो गई।

दुष्यन्त—हे प्यारी! अब तू इसे फिर पहन, जैसे ऋतु के आने पर लता फिर फूल धारन करती है।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा, तुम्हीं पहने रहो।

(मातलि आता है)

मातलि—महाराज! धन्य है यह दिन कि आपने फिर धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा।

दुष्यन्त—हाँ, आज मेरा मनोरथ सफल हुआ। हे मातलि! तुम यह तो कहो कि इस वृत्तात को इन्द्र ने जान लिया था कि नहीं।

मातलि—(हँसकर) देवताओं से क्या छुपता है? अब आओ, महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे।

दुष्यन्त—प्यारी, तू पुत्र का हाथ थाम ले, मैं तुझे आगे लेकर महात्मा का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—तुम्हारे सग बडों के सन्मुख जाते मुझे सकुच लगती है।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ अवसर पर ऐसा ही करना उचित है, आओ।

[सब घूमते है]

(आसन पर बैठे कश्यप और अदिति दीखते है)

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता!

दोहा—है यह तेरे पुत्र कौ रन अनगामी भूप।
नाम जासु दुष्यन्त है कीरति जासु अनूप॥
जाके धनुप-प्रताप तें लहिके अव विश्राम।
शोभा ही को रहि गयो इन्द्रवज्र अभिराम॥

अदिति—बडाई तो इसके रूप ही से दीखती है।

भारत-दुर्दशा

(कमरा अँगरेजी सजा हुआ, मेज, कुरसी लगी हुई।
कुरसी पर भारत-दुर्दैव बैठा है)

(रोग का प्रवेश)

रोग—(गाता हुआ) जगत सब मानत मेरी आन।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान ॥
मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन।
परम पिता हमहीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान ॥

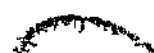
मेरा प्रभाव जगतविदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। त्रैलोक्य मे ऐसा कौन है, जिसपर मेरा प्रभुत्व नहीं। नजर, श्राप, भूत, प्रेत, टोना, टनमन, देवी-देवता, सब मेरे ही नामांतर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरसनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं। (आतक से) भला मेरे प्रबल प्रताप को ऐसा कौन है जो निवारण करे। हह! चुंगी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी, उतने ही हम भी "जस जस सुरसा

बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा"। (भारत-दुर्दैव को देखकर) महाराज! क्या आज्ञा है?

भारतदु०—आज्ञा क्या है, भारत को चारो ओर से घेर लो।

रोग—महाराज! भारत तो अब मेरे प्रवेश-मात्र से मर जायगा। घेरने का कौन काम है? धन्वन्तरि और काशिराज दिवोदास का अब समय नहीं है, और न सुश्रुत-वागभट्ट-चरक ही हैं। वैदगी अब केवल जीविका के हेतु बची है। काल के बल से औषधों के गुणों और लोगों की प्रकृति में भी भेद पड गया। बस, अब हमें कौन जीतेगा, और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा, तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिन्दू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढाई करते हैं और कैसे लडते हैं, जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई। वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे, यहाँ तक कि मेरे शत्रु डाक्टर और विद्वान् इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे, तो भी ये सब उनको शीतला के डर से न मानेंगे और उपाय आछत अपने हाथ अपने प्यारे बचों की जान लेंगे।

भारतदु०—तो अच्छा तुम जाओ। महर्घ और टिकस भी यहाँ आते होंगे, सो उनको साथ लिए जाओ। अतिवृष्टि, अनावृष्टि की सेना भी वहाँ जा चुकी है। अनैक्य और



अंधकार की सहायता से तुम्हे कोई भी रोक न सकेगा। यह लो, पान का बीडा लो। (बीडा देता है)

(रोग बीडा लेकर प्रणाम करके जाता है)

भारतदु०—बस, अब कुछ चिंता नहीं, चारों ओर से तो मेरी सेना ने उसको घेर लिया, अब कहाँ बच सकता है।

(आलस्य * का प्रवेश)

आलस्य—हहा! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नौ दिन चले अढाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा, डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी, तो या कूँडी के उस पार या इस पार ठीक है। एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे और उसी राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा "भाई सवार सवार, यह पका आम टपक कर मेरी छाती पर पडा है, जरा मेरे मुँह मे तो डाल दो।" सवार ने कहा—"अजी तुम बडे आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पडा है, सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस है।" दूसरा बोला-"ठीक है साहब, यह बडा ही आलसी है। रात-भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया, और यह पास ही पडा था, पर इमने न हाँका"। सच है, किस जिंदगी के वास्ते तकलीफ उठाना, मजे मे हालमस्त

* मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ धीरे धीरे आवेगा।

पड़े रहना। सुख केवल हममें हैं—"आलसी पड़े कुएँ में वहीं चैन है।"

(गाता है)

[गज़ल]

दुनियाँ मे हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा॥
बिस्तर पै मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा॥
"रहने दो ज़मीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक़्शेपा हैं मिटाना नहीं अच्छा॥
उठ-करके घर से कौन चले यार के घर तक।
'मौत अच्छी है पर दिल का लगाना नहीं अच्छा॥'
धोती भी पहिने जब कि कोई गर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ-पैर चलाना नहीं अच्छा॥
सिर भारी चीज़ है इसे तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा॥
फाक़ों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनियाँ नहीं अच्छी है ज़माना नहीं अच्छा॥
सिजदे से गर बिहिश्त मिले दूर कीजिए।
दोज़ख़ ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिन्द ख़ाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरेफ़र्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

और क्या। काजीजी दुबले क्यों हैं, शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमैं का हानी, चेरि छाँडि नहीं होउव रानी।' आनंद से जन्म बिताना। 'अजगर करै न चाकरी, पछी करे न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥' "जो पढतव्य सो मरतव्य, जो न पढतव्य सो भी मरतव्य, तब फिर दंतकटाकट किं कर्त्तव्य?" भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी मे गप सबसे अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सिर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। 'तवंगरी बदिलस्त न बमाल।' दोई तो मस्त हैं—या मालमस्त या हालमस्त। (भारतदुर्दैव को देखकर उसके पास जाकर प्रणाम करके) महाराज! मैं सुख से सोया था कि आपकी आज्ञा पहुँची, ज्यों-त्यों कर यहाँ हाजिर हुआ। अब हुक्म?

भारतदु०—तुम्हारे और साथी सब हिन्दुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ और अपनी जोगनिद्रा से सबको अपने वश में करो।

आलस्य—बहुत अच्छा। (आप ही-आप) आह रे बप्पा! अब हिन्दुस्तान मे जाना पडा। तब चलो धीरे-धीरे चलें। हुक्म न मानेंगे, तो लोग कहेंगे ("सरबस खाइ भोग करि नाना, समरभूमि भा दुरलभ प्राना")। अरे करने

को दैव आप ही करेगा, हमारा कौन काम है, पर चलें।

(यही सब बुडबुडाता हुआ जाता ह)

(मदिरा * आती है)

मदिरा—भगवान् सोम की मैं कन्या हू। प्रथम वेदों ने मधु नाम से मुझे आदर दिया। फिर देवताओं की प्रिया होने से मैं सुरा कहलाई, और मेरे प्रचार के हेतु सौत्रामणी यज्ञ की सृष्टि हुई। स्मृति और पुराणों में भी प्रवृत्ति मेरी नित्य कही गई। तन्त्र तो केवल मेरे ही हेतु बने। ससार में चार मत बहुत प्रबल हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान। इन चारों मे मेरी चार पवित्र प्रतिमूर्ति विराजमान हैं। सोमपान, बीराचमन, शराबुन्तहूरा और बापटैज़िग वाइन। भला कोई कहे तो इनको अशुद्ध? या जो पशु हैं, उन्होंने अशुद्ध कहा ही तो क्या, हमारे चाहनेवालों के आगे वे लोग बहुत होंगे, तो फी सैकडे दस होंगे, जगत् में तो हम व्याप्त हैं। हमारे चेले लोग सदा यही कहा करते हैं। और फिर सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं।

दूध सुरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम॥

---

* साँवली सी स्त्री, लाल कपडा, सोने का गहना, पैर में घुँघरू।

जाति सुरा विद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोय।
सुधरी आज़ादी सुरा, जगत सुरामय होय॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु, सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान॥
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद।
गौतम पियत अनद सो, पियत अग्र के नद॥
होटल में मदिरा पियें, चोट लगें नहि लाज।
लोट लए ठाढे रहत, होटल दैवे काज॥
कोऊ कहत मद नहिं पियै, तौ कछु लिख्यो न जाय।
कोऊ कहत हम मद्य-बल, करत वकीली आय॥
मद्यहि के परभाव सों, रचत अनेकन ग्रंथ।
मद्यहि के परकास सों, लखत धरम को पथ॥
मद पी विधि जग को करत, पालत हरि करि पान।
मद्यहि पीकै नाश सब, करत शंभु भगवान॥
विष्णु वारुणी पोर्ट पुरु-पोत्तम मद्य मुरारि।
शापिन शिव गौडी गिरिश, ब्राडी ब्रह्म विचारि॥
मेरी तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह।
माय बाप सुत धर्म्म सब, मदिरा ही न सँदेह॥
सोक-हरन आनँद-करन, उमगावन सब गात।
हरि मैं तपबिनु लय करनि, केवल मद्य लखात॥
सरकारहि मजूर जो, मेरो होत उपाय।
तो भवसों बढि मद्य पै, देती कर बैठाय॥

हमहीं कों या राज की, परम निसानी जान।
कीर्ति खम्भ-सी जग गड़ी, जब लों थिर ससि भान॥
राजमहल के चिह्न नहिं, मिलिहैं जग इत कोय।
तबहू बोतल टूक बहु, मिलिहैं कीरति होय॥

हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं, 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' और भागवत में कहा है—'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जतो।' उसपर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्य मूलसूत्र हूँ। पंच विषयेन्द्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत-साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ। फिर ऐसा कौन है, जो मुझसे विमुख हो?

(गाती है)

(राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)

मदवा पीले पागल जोबन बीत्यौ जात।
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात॥
पी प्याला छक छक आनँद से नितहि साँझ औ प्रात।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात॥
हाथी मच्छड़, सूरज जुगुनू जाके पिये लखात।
ऐसी सिद्धि छोडि मन मूरख काहे ठोकर खात॥

(राजा को देखकर) महाराज! कहिए क्या हुक्म है?

भारतदु०—हमने बहुतसे अपने वीर हिन्दुस्तान में भेजे हैं,

परन्तु मुझको तुमसे जितनी आशा है, उतनी और किसी से नहीं है। जरा तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ जाओ और हिन्दुओं से समझो तो।

मदिरा—हिन्दुओं के तो मैं मुद्दत में मुँह लगी हूँ। अब आपकी आज्ञा से और भी अपना जाल फैलाऊँगी और छोटे-बड़े सबके गले का हार बन जाऊँगी।

[जाती है]

(रगशाला के दीपों मे से अनेक बुझा दिये जायँगे)

(अधकार का प्रवेश)

[आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पडता है]

अधकार—(गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है)

राग काफी

जै जै कलियुग राज की, जै महामोह महाराज की।
अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की॥
कलह अविद्या मोह मूढता सबै नास के साज की॥

हमारा सृष्टि-संहार कारक भगवान तमोगुणजी मे जन्म है। चोर, उल्लूक और लपटो के हम एकमात्र जीवन है। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलो के चित्त मे हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारो नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं—एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से प्रसिद्ध

हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है। चलें, देखें क्या कहते हैं। (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो, कहिए, क्या अनुमति है?

भारतदु०—आओ मित्र! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुतसे लोग भारतविजय को भेजे हैं, पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहाँ जाना होगा।

अंधकार—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदु०—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अंधकार—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूँगा! गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

भारतदु०—हाँ, तो तुम हिन्दुस्तान में जाओ, और जिसमें हमारा हित हो सो करो। बस "बहुत बुझाइ तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।"

अंधकार—बहुत अच्छा, मैं चला। बस, जाते ही देखिए क्या करता हूँ।

(नेपथ्य में वैतालिक-गान और गीत की समाप्ति में
क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप)

निहचै भारत को अब नास ।
जब महाराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास ॥
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहै ह्वैहै सब बल चूर ।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर ॥
अब नहि राम धर्म्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास ।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहै अब आस ॥
जग के देस बढत बदि बदिके सब बाजी जेहि काल ।
ताहू समय रात इनकी है ऐसे ये बेहाल ॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चचल विगत उछाह ।
उदर भरन रत, ईस विमुख सब भए प्रजा नरनाह ॥
इनसों कछु आस नहिं ये तो सब बिधि बुधि-बल हीन ।
बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि विधि दीन ।
बोझ लादिकै पैर छानिकै निज-सुख करहु प्रहार ।
ये रासभ-से कछु नहिं कहिहैं मानहु छमा अगार ॥
"हित अनहित पशु पछी जाना" पै ये जानहिं नाहिं ।
भूले रहत आपुने रँग में फँसे मूढता माहिं ॥
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन ।
डका दै निज सैन साजि अब करहु उतै मन गौन ॥

(जवनिका गिरती है)

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

अंधेर-नगरी

स्थान—राजसभा

(राजा, मन्त्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

एक सेवक—(चिल्लाकर) पान खाइए, महाराज।

राजा—(पीनक से चौंक के घबड़ाकर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है)

मन्त्री—(राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए, महाराज।

राजा—दुष्ट, लुच्चा, पाजी। नाहक हमको डरा दिया। मन्त्री इसको सौ कोड़े लगें।

मन्त्री—महाराज ! इसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा—अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मन्त्री—पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा की सजा हो।

राजा—(घबड़ाकर) फिर वही नाम ? मन्त्री तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मन्त्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है। नौकर ! नौकर ! शराब—

राजा—अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकालो। (लोग भिश्ती को निकालते हैं, कस्साई को लाते हैं) क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई की दीवार लगाई बकरी दबाई?

कस्साई—महाराज! गँड़ेरिया ने टके पर ऐसी बडी भेड मेरे हाथ बेची कि उसकी मशक बडी बन गई।

राजा—अच्छा, कस्साई को निकालो, गँडेरिये को लाओ। (कस्साई निकाला जाता है, गँडेरिया आता है) क्यो बे ऊख पौंडे के गँडेरिया, ऐसी बडी भेड क्यों बेची कि बकरी मर गई?

गँडेरिया—महाराज! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उसके देखने में मैंने छोटी-बडी भेड का ख़याल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा—अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरब-मुहर पकड लाओ। (गँडेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकडा आता है) क्यों बे कोतवाल! तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गँडेरिये ने घबडाकर बडी भेड बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनियाँ दब गया?

कोतवाल—महाराज महाराज! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इतजाम के वास्ते जाता था।

मन्त्री—(आप-ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूँक दे या

फाँसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली ?

राजा—हाँ हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल—महाराज महाराज—

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकडकर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकडकर राजा जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

स्थान—अरण्य

(गोबरधनदास गाते हुए आते हैं)

(राग काफी)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥
नीच-ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुए पंडित तैसे ॥
कुल-मरजाद न मान बडाई। सबै एक-से लोग लुगाई ॥
जात-पाँत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई ॥
बेश्या जोरू एक समाना। बकरी गऊ एक करि जाना ॥
साँचे मारे मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढि चढि बोलैं ॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी। सोई राजसभा बल भारी ॥

फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध मे किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।

गोवरधन०—तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता, जो मुझ अनाथ फकीर को फाँसी देते हैं?

प० प्यादा—इसमे दो बात हैं—एक तो नगर भर मे राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकडें, तो वह न-जानें क्या बात बनावे कि हमीं लोगो के सिर कहीं न घहराय, और फिर इस राज में साधू महात्मा इन्हीं लोगो की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे।

गोवरधन०—दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ। अरे यहाँ बडा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना, उसका फल मुझको भोगना पडा। गुरुजी कहाँ हो! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ। गुरुजी गुरुजी—

(गोबरधनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकडकर ले जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

स्थान—श्मशान

(गोबरधनदास को पकडे हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गोवरधन०—हाय वाप रे! मुझे बेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे

भाइयो, कुछ तो धम्म बिचारो। अरे मुझ गरीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा? अरे मुझे छोड दो। हाय! हाय! (रोता है और छुडाने के यत्न करता है)

प० सिपाही—अबे, चुप रह—राजा का हुक्म भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आख़री दम है, राम का नाम ले—बेफाइदा क्यों शोर करता है? चुप रह—

गोबरधन०—हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना! अरे! इस नगर का नाम ही अंधेर-नगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की कौन आशा है। अरे! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है, जो इस फकीर को बचावे। गुरुजी कहाँ हो? बचाओ—गुरुजी—गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु—अरे बचा गोबरधनदास! तेरी यह क्या दशा है?

गोबरधन०—(गुरु को हाथ जोडकर) गुरुजी! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु—अरे बचा! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं, तैंने मेरा कहना नहीं सुना।

गोवरधन०—मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मै आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं। (पैर पकडकर रोता है)

गुरु—कोई चिंता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ, देखो मेरा कहना न मानोगे, तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते है। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते है)

गोबरधन०—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, मुझे चढने दे।

गोवरधन०—नहीं गुरुजी, हम फाँसी पड़ेंगे।

गुरु—नहीं बच्चा, हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोवरधन०—स्वर्ग जाने में बूढा जवान क्या? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से क्या? मैं फाँसी चढूँगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते है। सिपाही लोग परस्पर चकित होते है)

प० सिपाही—भाई! यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पडता।

दू० सिपाही—हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गवड़ा है।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं)

राजा—यह क्या गोलमाल है ?

प० सिपाही—महाराज ! चेला कहता है मैं फाँसी पड़ूँगा, गुरु कहता है मैं पड़ूँगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है।

राजा—(गुरु से) बाबाजी ! बोलो ! काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं ?

गुरु—राजा ! इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा।

मंत्री—तब तो हमीं फाँसी चढ़ेंगे।

गोवरधन०—हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल—हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा—चुप रहो, सब लोग। राजा के आछत और कौन बैकुंठ जा सकता है ! हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी।

गुरु—जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन-समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपटराज ॥

(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

———

एक झलक

स्थान—उदयपुर, प्रताप का घर

समय—प्रभात

(विचार मग्न प्रताप, सहसा सामन्त का प्रवेश)

सामन्त—राणा !

प्रताप—(चौंककर) कौन ? सामन्तजी ! कहिए, क्या सम्वाद है ?

सामन्त—क्या कहूँ ? बस अब नहीं देखा जाता। जी चाहता है, जन्म जन्मान्तर के लिए आँखें मूँद लूँ !

प्रताप—क्यों क्यों, क्या कोई विशेष घटना

सामन्त—नहीं राणा, यही नित्य की दुर्दशा प्रतिदिन नई मालूम होती है, काँटे की तरह इसकी कसक पल-पल पर अपरिचित-सी, नवीन-सी जान पड़ती है।

प्रताप—राजमहल का कोई विशेष सम्वाद है ?

सामन्त—राजमहल ? उसे राजमहल न कहो राणा, उसके वक्ष-स्थल पर वासनाओं का वह अविराम ताण्डव देखकर भी क्या उसे पिशाचपुरी न कहना चाहिए ? देखते नहीं हो राणा, आज बाप्पा रावल का वह उज्ज्वल राज मुकुट कायरता के कलक से काला हो रहा है, मखमली म्यान में भुवन-विजयी वीरों की करारी कटारी

पर जग चढ रहा है! क्या यह सब चुपचाप सह लेने की बातें हैं? देव! उस दिन का अमर इतिहास क्या सहज ही भुलाया जा सकता है, जब (कण्ठावरोध)

प्रताप—हाँ हाँ कहो भाई, जब

सामन्त—जब स्वाधीनता की आराध्य देवी, स्वच्छन्द वायु के झकोरों से, स्वर्ण उषा के अधरों मे, मुक्त मेघ की बूँदों मे, तेजस्वी सूर्य-चन्द्र की स्वतन्त्र किरणों से, इसी मरु-भूमि पर उतरकर क्रीडा किया करती थी, इसी अभागे मेवाड की उन्नत रक्त ध्वजा उसके पावन चरणों के एक-एक चुम्बन पर प्रफुल्ल होकर चित्तौड दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर बडे वेग से फहरा उठती थी। तब मेवाड को 'अपना' कहते समय हमारे वीर पूर्वजों की छाती फूल उठती थी, मस्तक ऊँचा हो जाता था और आरक्त आँखों के कोनों से सन्तोष और स्वाभिमान की किरणें फूट निकलती थीं। किन्तु, अब

प्रताप—अब भी मेवाड को 'माँ' कहते समय किसे रोमाञ्च न होगा? क्या कहते हो भाई, हम माँ को भूल गये? सम्भव है। पर माँ तो हमे नहीं भूली! कल जिसे 'अपनी' कहने में गर्व होता था, उसी को आज कोई केवल इसलिए 'पराई' कैसे कहेगा कि उसे 'अपनी' कहने में लाज लगती है! क्षुब्ध न हो सामतजी! शक्ति और साधन तो देशभक्ति का शरीर-मात्र है। उसकी

तो हृदय का वह उज्ज्वल भाव है, जो हममें उसके लिए पतंगे की तरह मर मिटने का साहस भर देता है।

सामन्त—फिर भी, जिनके कंधों पर आज चित्तौड़ के उद्धार का भार है, लाखों प्रजा जनों की उत्सुक आँखें जिनकी विशाल भुजाओं से आशा रखती हैं, उन्हीं को इस प्रकार विलासिता और बुजदिली का जीवन बिताने का क्या अधिकार है ? मेवाड़ का राजमुकुट इस प्रकार कायरों के मस्तक का भूषण बनकर कब तक अपनी हँसी कराता रहेगा ?

प्रताप—यह प्रजा का प्रश्न है—जनता का अधिकार है। मेवाड़ के सच्चे सैनिक, अधिकारों के लोभ से, सर्वस्व बलिदान नहीं करते। हमारे हृदय में लगन और त्याग की भावना तो हो, सारा संसार क्षण-भर में हमारा सहायक बन जायगा।

(सहसा नेपथ्य में "हर हर महादेव", "मेवाड़ पति की जय", "महाराणा प्रताप की जय" की ध्वनि। प्रताप चौंकते हैं—कुछ खिन्न भी होते हैं)

प्रताप—(स्वगत) इस कुसमय में विजय-नाद कैसा ? मेवाड़ के अकिंचन सेवक को किसने कहा 'महाराणा ?' किसकी जय और किसकी विजय ? जननी-जन्मभूमि चित्तौड़ के उद्धार के पहले यह जय-नाद उपहास-सा प्रतीत होता है।

(चन्द्रावत कृष्ण का, एक हाथ में मुकुट और दूसरे में तलवार लिए हुए, प्रवेश)

प्रताप—(खड़े होकर) कौन ? चन्द्रावत कृष्णजी ! आइए !

मेवाड के छोटे-से सैनिक को 'महाराणा' कहकर क्या विनोद करने आए हैं?

चन्द्रावत—महाराणा! यह विनोद नहीं, सत्य है—सूर्योदय की तरह सुन्दर और सुस्पष्ट। आज चित्तौड का भाग जागा है। उदयपुर से उत्सुक वीर आपको बधाई देने आ रहे हैं।

(कुछ राजपूतों का प्रवेश)

राजपूत—महाराणा की जय हो।

(प्रताप पहले किंचित सकुचित होते हैं और फिर उनका स्वागत करते हैं)

सामन्त—(सबको यथास्थान बिठलाकर) सम्भवत किसी आकस्मिक घटना के आघात से राणा का गृह पवित्र करने को मेवाडी वीरों की यह मन्दाकिनी आज इधर से बह निकली है। क्यो न चन्द्रावतजी?

चन्द्रावत—(खड़े होकर) वीरो, तुम साक्षी हो। आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरवर बाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राज-मुकुट—राजपुत्र प्रताप को नहीं—स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूँ। इसलिए नहीं कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करे, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर प्रताप चित्तौड को भूल जायँ, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर सेवक प्रभु बन जायँ। मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूँ—वीर प्रताप को देता हूँ—व्रती प्रताप को देता हूँ, केवल

तो हृदय का वह उज्ज्वल भाव है, जो हममे उसके लिए पतगे की तरह मर मिटने का साहस भर देता है।

सामन्त—फिर भी, जिनके कधो पर आज चित्तौड के उद्धार का भार है, लाखो प्रजा जनो की उत्सुक आँखें जिनकी विशाल भुजाओ से आशा रखती हैं, उन्हीं को इस प्रकार विलासिता और बुजदिली का जीवन विताने का क्या अधिकार है ? मेवाड का राजमुकुट इस प्रकार कायरों के मस्तक का भूपण वनकर कब तक अपनी हँसी कराता रहेगा ?

प्रताप—यह प्रजा का प्रश्न है—जनता का अधिकार है। मेवाड के सच्चे सैनिक, अधिकारो के लोभ से, सर्वस्व वलिदान नहीं करते। हमारे हृदय मे लगन और त्याग की भावना तो हो, सारा ससार क्षण-भर मे हमारा सहायक वन जायगा।

(सहसा नेपथ्य में "हर हर महादेव", "मेवाड पति की जय", "महाराणा प्रताप की जय" की ध्वनि। प्रताप चौंकते है—कुछ खिन्न भी होते हैं)

प्रताप—(स्वगत) इस कुसमय में विजय-नाद कैसा ? मेवाड के अकिंचन सेवक को किसने कहा 'महाराणा ?' किसकी जय और किसकी विजय ? जननी-जन्मभूमि चित्तौड के उद्धार के पहले यह जय-नाद उपहास-सा प्रतीत होता है।

(चन्द्रावत कृष्ण का, एक हाथ में मुकुट और दूसरे में तलवार लिए हुए, प्रवेश)

प्रताप—(खडे होकर) कौन ? चन्द्रावत कृष्णजी! आइए!

ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित मे तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दे, यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी मे रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा और तृणो पर सोऊँगा। आज ही से—नहीं, इसी क्षण से—मेरे लिए ये राज प्रासाद, ये स्वर्ण-शृङ्गार और ये आनन्द विहार तृण मे भी तुच्छ हैं। माँ का स्वर्ण-संसार आज श्मशान हो रहा है—प्यारे चित्तौड़ मे एक भी दीपक नहीं—उसका सम्मान आज विदेशियों के अत्याचारों की पदरज बना हुआ है। क्या अब भी हम सुख की नींद सो सकेंगे?

(राजपूतों के खड्गों की झंकार और उनकी 'नहीं, नहीं' की ध्वनि)

प्रताप—चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा मे सहायक बनो। चित्तौड़ के उद्धार के पहले हमें, पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग मे भी शान्ति न मिले।

राजपूत—हम चित्तौड़ के लिए आपके इंगित पर हँसते हँसते मर मिटेंगे।

चन्द्रावत—मेवाड़ के सूर्य! बरसो से जो अभिलाषा इस हृदय में

तेज पर मुग्ध होकर, त्याग को सिर झुकाकर, न्याय का भक्त बनकर, मातृभूमि पर मर मिटने की आपकी अमर अभिलाषा से चित्तौड के उद्धार की आशा रखकर। वह प्रजा का निर्णय 'नहीं' सुनना नहीं जानता! देव, यह जनता की धरोहर—प्रजा की भेंट—कर्त्तव्य समझकर ही—स्वीकार कीजिए!

(राजपूत जय-नाद करते हैं। प्रताप घुटने टेक देते हैं)

प्रताप—आपके आग्रह के आगे सिर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ वीरो, यह काँटों का ताज है, शूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है! यह मुकुट नहीं—कर्त्तव्य है! जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है! यह प्रभुता का चिह्न नहीं, सेवा का निशान है, राजकुमारो का विलास नहीं, वीरों का बलिदान है। मैं इस विष के प्याले को अपने प्रभु की—प्रजा की—आज्ञा से अमृत की तरह पीने को तैयार हूँ।

(चन्द्रावत सिर पर मुकुट रखते हैं, हाथ में तलवार देते हैं, राजपूत जय-नाद करते हैं)

चन्द्रावत—प्यारे महाराणा! आपका सिंहासन राजमहलों में नहीं—प्रजाजनो के हृदय में बिछे, और आपका अभिषेक क्षुद्र जलकणों से नहीं—स्वाधीनता-संग्राम में वीरो के हृदय-रक्त की लाल-लाल बूँदों से हो!

प्रताप—(तलवार खींचकर) भवानी! तू साक्षी है। जनता-जनार्दन

ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड के हित मे तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोडूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड दे, यह प्रताप प्राण छोडकर भी प्रण न छोडेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी मे रहूँगा, पत्तल मे खाऊँगा और तृणों पर सोऊँगा। आज ही से—नहीं, इसी क्षण से—मेरे लिए ये राज प्रासाद, ये स्वर्ण शृङ्गार और ये आनन्द विहार तृण से भी तुच्छ हैं। माँ का स्वर्ण-ससार आज श्मशान हो रहा है—प्यारे चित्तौड में एक भी दीपक नहीं—उसका सम्मान आज विदेशियों के अत्याचारों की पदरज बना हुआ है। क्या अब भी हम सुख की नींद सो सकेंगे?

(राजपूतों के खड्गों की झकार और उनकी 'नहीं, नहीं' की ध्वनि)

प्रताप—चित्तौड के सपूतो, मेवाड के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा मे सहायक बनो। चित्तौड के उद्धार के पहले हमें, पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग में भी शान्ति न मिले।

राजपूत—हम चित्तौड के लिए आपके इगित पर हँसते हँसते मर मिटेंगे।

चन्द्रावत—मेवाड के सूर्य! बरसों से जो अभिलाषा इस हृदय में

छिपी पड़ी थी, वह आज पूरी हुई। चित्तौड़ की दुर्दशा पर रोते-रोते आँखें अंधी हो चली थीं—हृदय फटा जाता था। कोई ऐसा नायक नज़र नहीं आता था, जिसके इंगित पर मेवाड़ी वीर हँसते हँसते चित्तौड़ की बलि वेदी पर अपने प्राण होम कर देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड़ धन्य है और धन्य है सीसौदिया वंश।

प्रताप—वीरो! मेवाड़ के अभिमान! चित्तौड़ की आशा! आज तुम्हें पाकर हृदय उत्साह से भर गया है। चित्तौड़ के खँडहरों का शून्य हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार फिर उसे स्वाधीनता-संग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। आज से मेवाड़ का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध-क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड़ का उद्धार हमारा लक्ष्य और बलिदान हमारा मार्ग होगा। हर-हर महादेव! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्त्तन)

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'



संसार-महानाट्यशाला

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंच-महाभूत की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुर-शिरोमणि, सकल-गुण-आगार, नटनागर, महानट, अनोखे खेलवाडी, सूत्रधार के खेल-वाड की ऐसी रंगभूमि है, जिसमें दृश्य अदृश्य रूप से भासता हो, वह दर्शकों की दृष्टि से मायामयी जवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट् वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है, जिसमें शृङ्गार, वीर, करुणा आदि नवो रस बारी-बारी स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महा-सूत्रधार की सहचारिणी नर्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम रूप के विचित्र वेशधारी जीव समूह सब उस बडे नटनागर की नाट्य-लीला के सहायक सहकारी नट है। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभिनय रातोदिन हर घंटे, हर घडी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष, अविच्छिन्न रूप से हुआ करता है—कोई खास घंटा या मिनट मुकर्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्यशाला का दरवाजा खुलेगा। न फ़ीस का कोई

छिपी पडी थी, वह आज पूरी हुई। चित्तौड की दुर्दशा पर रोते-रोते आँखें अधी हो चली थीं—हृदय फटा जाता था। कोई ऐसा नायक नजर नहीं आता था, जिसके इगित पर मेवाडी वीर हँसते हँसते चित्तौड की बलि वेदी पर अपने प्राण होम कर देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड धन्य है और धन्य है सीसौदिया वश।

प्रताप—वीरो! मेवाड के अभिमान! चित्तौड की आशा! आज तुम्हे पाकर हृदय उत्साह से भर गया है। चित्तौड के खँडहरों का शून्य हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार फिर उसे स्वाधीनता-सग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। आज से मेवाड का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध-क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड का उद्धार हमारा लक्ष्य और बलिदान हमारा मार्ग होगा। हर-हर महादेव! (प्रस्थान)

(पट-परिवर्त्तन)

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद'



संसार-महानाट्यशाला

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंच-महाभूत की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुर-शिरोमणि, सकल-गुणागार, नटनागर, महानट, अनोखे खेलवाड़ी, सूत्रधार के खेलवाड़ की ऐसी रंगभूमि है, जिसमें दृश्य अदृश्य रूप से भासता है, वह दर्शकों की दृष्टि से मायामयी जवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट् वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है, जिसमें शृङ्गार, वीर, करुणा आदि नवों रस बारी-बारी स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महा-सूत्रधार की सहचारिणी नर्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम रूप के विचित्र वेशधारी जीव समूह सब उस बड़े नटनागर की नाट्य-लीला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभिनय रातोंदिन हर घंटे, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष, अविच्छिन्न रूप से हुआ करता है—कोई खास घंटा या मिनट मुकर्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्यशाला का दरवाज़ा खुलेगा। न फ़ीस का

नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस इस दरजे की फीस ली जायगी। उस बडे नटनागर ने सबों को अपना अभिनय देखने की आज्ञा दे रक्खी है। उसकी नजर मे कोई छोटा या बड़ा है ही नहीं। उसका प्राणिमात्र पर एक भाव और सबों के साथ एक सा बर्ताव है—

"बाबा वह दरबार हमारा, हिंदू-मुसलमान से न्यारा,
जहाँ जनेऊ-सुनत न होई, पडित-मुल्ला बसै न कोई"

समस्त जीवराशि का निरतर कोलाहल इस नाट्यशाला का सगीत है। एक ओर जयध्वनि-पूरित हर्षनिस्स्वन, दूसरी ओर क्लेश और करुणा मे भरी हुई रोने की आवाज तथा जीवराशि-रूपी अद्भुत यत्र के अनोखे तान दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक में मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करते हैं। सूर्य, चद्रमा, ग्रह, नक्षत्र, सरित्, समुद्र, अभ्रलिह अत्युच्च शिखर-वाले हिमधवलित पर्वत इत्यादि कारण सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर भी उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाए जाते हैं, वे सब नए से-नए और टटके-से-टटके होते हैं। अचिन्त्य चातुर्य-समन्वित, विराट् मूर्तिमय यह सपूर्ण जगत् देख देखनेवाले के मन मे रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रस एकसाथ स्थान पाते हैं और उस "पुरुष पुरातन", "महाकवि" की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अतर उस बडे नट के नाटक और हम लोगों के नाटक

में यह है कि हम लोग इस दृश्य-काव्य नाटक में असल की नक़ल कर दिखलाते हैं, और वह अपने नाटक में जो कुछ नक़ल कर रहा है, वह माया-जवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखनेवालों के चित्त में उसकी भाँति-भाँति की नक़ल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं और उसके अचिंत्य दिव्य रूप को, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बडे से-बडा, ऊँचे-से-ऊँचा, दूर से दूर, समीप से समीप है, सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और-का और समझ गोते खाया करते हैं। और निन्नानबे के फेर में पड इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकडे हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक्की की अनेक चेष्टा करते हैं, किंतु किसी अदृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं, वह नहीं होता—

"अपना चेता होत नहिं, प्रभु-चेता तत्काल"

जिसका कभी सपने में भी खयाल नहीं किया जाता, वह आ पडता है। हमें पात्र बनाकर जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा करना आरम्भ किया था, वह यदि पूरा उतर आया, तो हम फूले नहीं समाते और भाग्यवानों की श्रेणी में अपना अव्वल दरजा कायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छंद निरंकुश हो उस छिपी दैवी शक्ति पर जरा भी ध्यान न दे "हम सब भाँति समर्थ हैं," यही समझने लगते हैं, बडे शूरवीर योद्धा सम्राट् चक्रवर्ती, जिनकी



कल्पना-शक्ति

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियो में कल्पना-शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सक्ती है, पर इसका सूक्ष्म अकुर किसी-किसी के अत करण मे आरभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना-शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूल-भूलैया मे चक्कर मारता, टकराता, अत को इसी सिद्धात पर आकर ठहरता है कि वह कोई प्राक्तन सस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड करना कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि जगत् स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पडा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पात फरागत हो गए, पर कविजन नित्य नई नई रचना के गढत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करनेवाले के हृद्गत भाव या मन

के परखने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृतिवाले से शृङ्गार-रस प्रधान कल्पना कभी न बन पडेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृङ्गार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिये दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविन्द ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम रावण या कर्णार्जुन के युद्ध का वर्णन कभी उनसे न बन पडता। यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना-पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर किसी ने पाया है! अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि "गोतम" हो गए। कणाद किनका खा खाकर तिनका बीनने लगे, पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते करते "कपिल" अर्थात् पीले पड गए। व्यास ने इन तीनों महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौडता फिरे, यह सपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना-ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण भगुर है, अतएव हेय है। उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धत्व का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पना-जन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अतर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित के प्रवर्तक उक्लैदिस (यूक्लिड) ज्यामिति की हरएक शकल में बिंदु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग ही चाट गए। कहाँ तक गिनावें, सपूर्ण भारत-

का-भारत इसी कल्पना के पीछे गारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्त्तव्यता (Practice) में परिणत होते देख यहाँवालो को हाथ मल-मल पछताना और 'कलपना' पडा।

प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पडना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड बहुत-सी झूठी झूठी कल्पना कर आपका थोडा सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।

—बालकृष्ण भट्ट



आप

तो भला बतलाइये तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं, तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं, और आप 'ब्राह्मण' के सम्पादक हैं। अथवा आप पडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है। वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लम्बी धोती, चमकीली पोशाक, खुटी हुई अँगरखी (मिरजई), सीधी माँग, विलायती चाल, लम्बी दाढी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिये"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यो पूछा ? इसीलिये कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं या नहीं ? जिस 'आप' को आप अपने लिये तथा औरों के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते हैं, वह 'आप' क्या है ? इसके उत्तर में आप कहियेगा कि एक

सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह वह, आदि हैं, वैसे ही 'आप' भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं सन्तुष्ट होंगे, न आप ही के शब्द शास्त्र ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिये कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिये बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नकल है, हम, तुम, संस्कृत के 'अहं', 'त्वं' के अपभ्रंश हैं, यह, वह, निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्जे-फ़ारसी या अरबीस्त" अथवा "ओ! इटिज़ एन इंगलिश वर्ड" Oh! it is an English word)। जब यह नहीं है, तो ख्वाह मख्वाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर पैर मूँड-गोड भी है कि यों ही? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में 'आप' कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि की आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' —तथा हिन्दी में पानी और फारसी मे "आब" का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है। जैसे—"पानी उतरिगा तर वारिन का उइ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरिगा

रजपूती का उड़ फिर विसुओ ते (वेश्या से भी) यहि जायँ", और फारसी में "आबरू खाक मे मिला बैठे" इत्यादि ।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से 'आप' पुकारने लगे होंगे । यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींच-खाँचकर, और साथ ही यह शका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं । उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्खाब का पर कहाँ लगा है ! अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिये, तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप-आप कहा करते हैं, यह आपकी कौनसी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी मे गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है । तो क्या आप हमको मुँह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप 'पानी दार' होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायँगे और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे ।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप-आप की बोली बोलते भी भी नहीं हैं । एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा, तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात

न्यारी है, अकेले मे अथवा अपनायतवालों के आगे आप-आप न किया करो, इसमे भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो-चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे क्यों मानने लगे ! इसपर हमें झुँझलाहट छूटी, तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी !! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ 'तू' कहने में जितना स्वाद आता है उतना बनावट मे आप-साँप कहो, तो कभी सपने में नही आने का। इस उपदेश को वह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र मे कोई बन्धन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम वरच नहीं के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता मे हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाये हैं, एक तो "आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिए", पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रथ का है और न इसका आशय स्नेह-सम्बद्ध है। किसी जले-भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरा घनानदजी का यह सवैया है —"आपहि तो मन हेरि हर्यो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इमसे हमारा यह कथन कोई खण्डन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, "तू" ही प्यारा है।

सस्कृत और फारसी के कवि भी 'त्व' और 'तू' के आगे 'भवान्' और 'शुमा' (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं

करते, पर इसमें आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये, और न लगे तो हम बतला देंगे।

संस्कृत में एक "आप्त" शब्द है, जो सर्वथा माननीय अर्थ में ही आता है, यहाँ तक कि न्याय शास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि "आप्तोपदेश शब्द," अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है। या यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द-बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है। और देवनागरी (हिन्दी) भाषा में 'आप्त' शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके 'आप' बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक-प्रफुल्लित-पूरित-गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गये होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतगड़ से भी न समझे हों, तो

15 शंकर दयाल

इस छोटे-से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के 'आप्त' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ की सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बातें करनेवालों के द्वारा पूछे-बताये जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनो मे जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है। वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है कि एक तो तब कोई अपने मन से आपको (अपने-तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है, और विचारकर देखिये तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पडती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहकार की गध समझिये, तो यों समझ लीजिये कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमे पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप, तथा वह एव वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे', 'अर्थात् कोई सन्देह नहीं है कि हमसे वह कार्य सम्पादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं' अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के 'आपाजी' भी उन्नीस बिस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गये हैं, तथा कोई माने वा न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के

'अब्ब' (पिता, बोलने में अब्बा)और यूरोपीय भाषाओं के 'पापा' (पिता), 'पोप' (धर्मपिता) आदि भी इसी आप्त से निकले हैं। हाँ, इसके समझाने में भी जी ऊबे तो अँगरेजी 'एबाट' (Abbot महत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का स्थानापन्न A है, और पकार को बकार से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (t), सो वह तो तकार हुई है। फिर क्या न मान लीजियेगा कि 'एबाट' साहब हमारे 'आप' वरच शुद्ध 'आप्त' से बने हैं।

हमारे प्रान्त के बहुतसे उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिन्दू-सन्तान के पक्ष में 'पकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अगरेज़ों की 'तकार' और फारसीवालो की 'टकार' नहीं है कि मुँह ही से न निकले, और सदा 'मोती' का मोटी अर्थात् स्थूलांग स्त्री और खस की टट्टी का 'तत्ती' अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा। हाँ, आप्त से आप और 'अप्पा' से 'आपा' की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने 'अब्बा' में रूपान्तरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नहीं होता, सौ-बिस्वा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल लेते हैं, जैसे—

पादशाह-बादशाह और पारसी—फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में वकार भी मिला देते हैं, जैसे—वक्के-शव—ववक्के-शव तथा तग आमद—वतग आमद इत्यादि, और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे—अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रथों मे देखो), ह्रस्व आकारान्त शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे—एक—एकु, स्वाद—स्वादु, आदि, अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है। फिर हम क्यों न कहे कि जिन शब्दो मे अकार और पकार का सपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो, वह प्राय समस्त ससार के शब्द 'आप्त' महाशय वा 'आप' ही के उलट-फेर से बने है ।

अब तो आप समझ गये न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझा ता हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन है !' हॉ, आप ही को उचित होगा कि दमडी-छदाम की समझ किसी पसारी के यहॉ से मोल ले आइये, फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप "कौन है ? कहॉ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढके आपे से बाहर हो जाइये, तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी मे कह लेंगे—"शाब ! आप न समझो, तो आपॉंको के पडी छै"। ऐं ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

—प्रतापनारायण मिश्र

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न-जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महाकठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था, तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है, तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच

धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि ईश्वर अवतार धारण करता है और अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है, जो सर्वथा निर्विकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों मे प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थ' कह ही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्यों कर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व होने तक में नास्तिकों को सदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है, तब उसके बनाए ससार मे भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है, किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक मे वे फूट-फूटकर रोने लगे। इसपर शिष्य ने आश्चर्य में पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक बताते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा

कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव (ससार) मे जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम है, तभी तक ससार है, वरच ससार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भरम बनाए रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमसी खाक मे मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर ससार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं, वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर ससार के किसी काम के नहीं रह जाते, वरच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं जसमे हरि तस माय," इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरो का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोडा है, क्योंकि लोक और परलोक का भला भी धोखे ही में पडे रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड है। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो अपना शरीर मल-मूत्र, मास, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव मे इतनी जानकारी भी नही है कि हमारे सिर मे कितने बाल हैं या एक मिट्टी के गोल का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें बडा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारे लेख की और जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त

करते हैं। विचारकर देखिये तो धन जन इत्यादि पर किसी
कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण ये हमारे काम आ रहे हैं, क्षण
भर के उपरान्त न-जाने किसके हाथ मे वा किस दशा में प
हमारे पक्ष मे कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वि
कभी न होगा, तो हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, छ
"मुदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की," पर हम ऐसा सम
कर सबसे सम्बध तोड दें, तो सारी पूँजी गँवाकर निरे म
कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबध न करके उनका जीवन नष्ट क
का पाप मुडियावें, "ना हम काहू के ना कोऊ हमारा" का उदाहर
बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वचित रह जाय
इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिये तो किसी की कु
भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जी
तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घडी में जब तक पुर्जे दुरुस्त हैं औ
ठीक-ठीक लगे हुए हैं, तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन आवा
आ रही है। जहाँ उसके पुर्जों का लगाव बिगडा, वहीं न उसक
गति है, न वह शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक
ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रि
से कर्म का प्राकट्य होता है। जहाँ इसके क्रम से व्यतिक्रम हुआ
वहीं सब खेल बिगड गया। बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव, कैस
आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पडता
क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उसक

विषय में अन्ततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों के ही मत से नहीं, किन्तु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित-सुख-दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल-खगोल पढ डाला है, पर नरक और वैकुंठ का पता नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड दें, तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना और पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्रीसूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पडता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग कहलाता है। जब सब कुछ धोखा-ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिचर ढिचर होने लगे वरच रह ही न जाय, तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सिकुड जाती हैं? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणत जो धोखा खाता है, वह अपना कुछ-न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना

वा प्रतिष्ठा खोना दोनो बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्ब
हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं
झते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काज
कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता, वैसे ही भ्रम
भवसागर में रहनेवाले अल्पसामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा
रहना असभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता, उसका उ
निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोप
मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका ल
यही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डा
और जो जी मे समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम व
वास्तव में भली अथवा बुरी नही होती, केवल उसके व्यवहार
नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को
कुछ उठा दीजिए, तो क्या भीख माँगके प्रतिष्ठा अथवा चं
करके धर्म खोइएगा, या भूखों मरके आत्महत्या के पापभ
होइएगा? यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है,
यदि कोई ससार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दड दिलवा
या आप ही उसका दमन कर दीजिए, तो अनेक लोगों के हित
पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए, तो उठ
बैठने की शक्ति न रहेगी, और सग्रिया, सींगिया आदि प्रत्य

विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से भपकी-फुदनी जोडकर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ, तो बडे भारी अनुभवशाली बरच 'गुरु गुड ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो, तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरु-घटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा। इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गये है कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति कुशलता मे इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व यदि निरे खेत के धोखे न हो, मनुष्य हो, तो समझ गए होगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझवालों का

काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आपसे भी छुड़वाया चाहते हो, उनको समझे रहिए कि स्वय धोखा खाये हुए हैं, और दूसरो को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसो से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एव पदार्थ अपने न हों, वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुदर हो, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असभव नही है। बस, इतना स्मरण रखियेगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहियेगा, नहीं तो हमें क्या। अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खाओगे, क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

—प्रतापनारायण मिश्र



आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सध्या फुर्ती के साथ पाँव बढाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था, बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे, नागपुरी नारगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भग, उधर घटा, बहार में बहार। उतने में वायु का वेग बढा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं, साथ ही तड-तड, धड-धड होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बम् भोला कह-कर शर्माजी ने एक लोटा भर चढाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बडे लाट मिंटो ने बग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरा-मदे की छत पर बूँदें गिरती थीं, और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल

सुपुप्ति के आनंद मे निमग्न रहे। अचानक धड-धड, तड-तड के शब्द ने कानो मे प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोको से किवाड पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे की टीनो पर तडातड के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूँदो और दो-चार ओलों से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अदर भी ओलों की एक बौछाड पहुँची। फुर्ती से किवाड बन्द किये। तथापि एक शीशा चूर हुआ। इतने में ठन-ठन करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आँखें और हाथ-पाँव सुख मे थे, पर विचार के घोडे को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बडे लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरो मे चले गये होगे, पर वह चील कहाँ गई होंगी? हा, शिवशभु को इन पक्षियो की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपडी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकाएँ शून्य पडी है।

आन की आन में विचार बदला, नशा उडा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशा मे हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहाँ? प्यारी भग! तेरी कृपा से कभी कुछ काल के लिये

चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढा भगड क्या सुख का भूखा है। धावों से चूर जैसे नींद मे पडकर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न मे अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी वैसे ही कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिंता स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है, जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है, वही किसी दिन बडा आनद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्णा अष्टमी की अर्द्धरात्रि, चारों ओर घोर-अधकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था वह और कोई नहीं थे, यदुवशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रज प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ, उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारत सतान के लिये तीर्थ हुआ। वहाँ की धूलि मस्तक पर चढाने के योग्य हुई।

"बर जमीने की निशाने कफेपाये तो बुवद ।
सालहा सिजद्ये साहिब नजरों ख्वाह बूद ॥"*

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है ।

—बालमुकुन्द गुप्त



नोट —

* जिस भूमि पर तेरा पद-चिह्न है, उसपर दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक अपना मस्तक टेकेंगे ।

एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफरानी बसती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदें भर रहा था। हाथ पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूलअरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया मे। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानो में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।

"चलो चलो आज खेलैं होली, कन्हैया घर"। कमरे से निकलकर बरामदे मे खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देखकर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के विकास का समय है, वह होली क्यों न गाये। इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने

वसत मे सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादो की सी अँधियारी है, वर्षा की झडी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतु-विपर्यय है।

इस विचार को छोडकर गीत के अर्थ का जी मे विचार आया। होली-खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार। और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत मे ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राज-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत मे राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनद समझते थे? यदि आज शिवशभु शर्मा अपने मित्रवर्ग-सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रग की पिचकारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशभु ने देखा, न राजा ने शिवशभु को। खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर व्रज-वासियों को सतोष देने के लिए व्रज में भेजा है। क्या उस राज-प्रतिनिधि के घर जाकर शिवशभु होली नहीं खेल सकता? ओफ! यह विचार वैसा ही वेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है? वह तो समय समझकर

ही गा रहा था। यदि वसत मे वर्षा की झडी लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिये ? सचमुच बडी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर व्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर मे ही हैं, पर शिवशभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती। जहाँगीर की तरह उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घटा नहीं लगाया जिसकी जजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उसे सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चँद्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गडाने से उसका चद्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किंतु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचद्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशभु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना सदेश भगड शिवशभु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशावाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—बालमुकुन्द गुप्त

राजा भोज का सपना

वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भं
का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो स
जगत् में व्याप रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते
कॉप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवा
सेना उसकी समुद्र की तरगों का नमूना और खजाना उस
सोने चादी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने रा
कर्ण को लोगो के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम
भी लजाया। कोई उसके राज्य-भर में भूखा न सोता और न कं
उघाड़ा रहने पाता। जो कोई सत्तू माँगने आता उसे मोती
मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे
जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारि
पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख
लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को पट्
भोजन कराके तब आप खाने को बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दा
और व्रत उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चाद्राय
किये थे और बड़े बड़े जगल-पहाड़ छान डाले थे।

एक दिन शरद् ऋतु में सध्या के समय सुदर फुलवाड़ी

च स्वच्छ पानी के कुड के तीर, जिसमे कुमुद और कमलों के
व जलपक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल
कए के सहारे स्वस्थचित्त बैठा हुआ वह महलो की सुनहरी
ासियाँ लगी हुई सगममेर की गुमजियों के पीछे से उदय होता
ा पूर्णिमा का चद्रमा देख रहा था और निर्जन एकात होने के
रण मन ही-मन मे सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को
ा प्रकाश किया जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है ।
ा मनुष्य और क्या जीव-जतु, मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का
ा करने में गँवाया और व्रत-उपवास करते-करते फूल-से शरीर
काँटा बनाया । जितना मैंने दान किया, उतना तो कभी किसी
ध्यान में भी न आया होगा । जो मैं हो नहीं तो फिर और कौन
सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे
च्छी गति देगा । ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से मे चोवदार ने पुकारा—"चौधरी इन्द्रदत्त निगाह
रू !" श्री महाराज सलामत भोज ने आँख उठाई, दीवान ने
ष्टाग दडवत् की, फिर सम्मुख जा हाथ जोड यो निवेदन
या—"पृथ्वीनाथ, सडक पर वे कुएँ, जिनके वास्ते आपने हुक्म
ा था, बनकर तैयार हो गये हैं और आम के बाग भी सब
ाह लग गए । जो पानी पीता है आपको असीस देता है और
उन पेडों की छाया में विश्राम करता आपकी बढती दौलत
ाता है ।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन मेरी
मलदारी-भर में जहाँ जहाँ सडकें हैं कोस कोस पर कुएँ खोदवाके

सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड भी जल्द लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाडे में रजाई पाते हैं सो डेवढी पर हाजिर हैं।" राजा ने कहा—"अब पाँच के बदले पचास हजार को मिला करे और रजाई की जगह शाल-दुशाले दिये जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने के वास्ते तोशेखाने मे गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि "महाराज! उस बडे मदिर की, जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज नींव खुद गई, पत्थर गढे जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा का खूब घुडका—"अरे मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिल्कुल मदिर सगमर्मर और सगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस ससार मे अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानो धर्म का उद्धार करने को जगत् मे अवतार लिया। आज आपसे बढकर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घडियाली ने निवेदन किया कि "महाराज!

आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी, व्यास कथा कहते थे, पर राजा को ऊँघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई, तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उसपर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थर में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुल्लालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराज की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है, दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा-खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति-सी उसके सामने आसमान से उतरी

लची आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य से भी अधि परन्तु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है उस प्रकार उसने मुँह घूँघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखें कब उ ठहर सकती थीं, इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के म चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लडखडाती जबान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधों की आँखें खो हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है, तो हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन मंदिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे राजा के जी पर एक अजब दहशत-सी छा गई। नीची नि करके वह गर्दन खुजाने लगा। सत्य बोला, भोज! तू डरता तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता, क्योंकि जिसने अपने नहीं जाना, उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल-सा श काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते देते सारा राज खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या ताल

नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला—"ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते हैं? पर सूर्य की किरण पडते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं? क्या कपडे से छाने हुए मैले पानी मे किसी को कोडे मालूम पड़ते हैं? पर जब खुर्द-बीन शीशे को लगाकर देखो तो एक एक बूँद मे हजारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से, जिसे अवश्य जानना चाहिये, डरता नहीं, तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बडे मदिर के ऊँचे दरवाजे पर चढा ले गया, जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता। क्योंकि तूने अपने तई निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन कौनसे किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यत प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्यकर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल-सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी-से भारी पाप भी उसके पासग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड बडे ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिये। फलो से वे इतने लदे

हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए है। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले-पीले मेरे न्याय से और तीसरे मे ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते है। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों मे चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम-सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बडा पद पाया है और उस लोक मे भी इससे अधिक मिलेगा, तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य के मडल मे लोग कलक बतलाते हैं, पर तुमपर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेडों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है, तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूँठ-से खडे थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच उन पेडों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं? चल, उन पेडों के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ मे तो ये लाल लाल फल, जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है, यश और कीर्ति फैलाने की

चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड में लगाए हैं।" निदान ज्यों ही सत्य ने उस पेड़ को छूने को हाथ बढाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल, जैसे आसमान से ओले गिरते हैं, एक आन की आन मे धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई, पेडों पर सिवाय पत्तों के कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा, जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है, उसी तरह तूने अपने भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड ठूँठ का ठूँठ रह गया। जो तूने दिया और किया, सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो, तो तू ही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था।"

भोज ने एक ठंढी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था, पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड की तरफ हाथ बढाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला, "राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से, लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है

कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे, तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्यो कर रह सके। जिस राज्य मे न्याय नहीं वह तो बे-नींव का घर है, बुढिया के दाँतो की तरह हिलता है, अब गिरा, तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यो नहीं बतलाया कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सासारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से ?"

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पडा। तीसरे पेड की बारी आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड पर तेरे अहकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवो की दया से की हो ? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तई औरों से अच्छा और बढकर विचारे। ऐसे ही तप पर गोबर-गनेस तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है ? पर यह तो बतला कि मदिर के उन मुँडेरो पर वे जानवर-से क्या दिखलाई देते हैं, कैसे सुदर और प्यारे मालूम होते है। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फीरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिये हैं।" राजा के जी में घमड की चिडिया ने फिर फुरफुरी ली। मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मदिर की मुँडेरों पर देखता है मेरे सध्यावदन का प्रभाव है। मैंने जो

रातों जाग-जागकर और माथा रगडते रगडते इस मदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति वदना और विनती प्रार्थना की है वे ही अन चिडियों की तरह पख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुँचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि "राजा, दीनबधु करुणासागर श्री-जगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है। और जो मनुष्य शुद्ध-हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है, वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य चाँद को बेधकर पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मदिर के मुँडेरे पर बैठे रहे? आ चल, देखें तो सही, हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फडफडाया करते हैं।

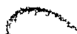
भोज डरा, लेकिन उसने सत्य का साथ न छोडा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा, तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर, जो दूर से ऐसे सुदर दिखलाई देते थे, मरे हुए पडे हैं, पख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सडे हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उडने का इरादा भी किया, तो उनका पख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हे उसी ठौर दबा रखा। वे तडफा जरूर किए, पर उड़ जरा भी न सके। सत्य बोला'—'भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति वदना और विनती प्रार्थना

भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है, पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया, केवल लोगो के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तू एक बार भी जी से पुकारा होता कि "दीनबंधु दीनानाथ दीनहितकारी! मुझ पापी महा-अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर, तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारो से पार पहुँची होती।" राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि "भोज! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे-ऐसे अँधेरे तहखाने और तलघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय सर्वदर्शी, घटघट-अंतर्यामी सकल-जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिंचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल-सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने मे लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहाँ जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था, भीतर का ईंट पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले-काले दाग रह गये थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढे पड़ गये थे। राजा यह देखकर भौंचक्का-सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्का-बक्का बन गया। उसने धीमी आवाज़ से पूछा कि

ये टिड्डी-दल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए ? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा, ये दाग, जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं, दुर्वचन हैं जो दिन रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी-कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबरवाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैंने कितना झूठ बोला है। अपने ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिये तैंने कैसी-कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं, सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही बही में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है, पर उस घट घट निवासी अनंत अविनाशी को एक-एक बात, जो तेरे मुँह से निकली है, याद है और याद रहेगी। उनके निकट भूत और भविष्य वर्तमान-सा है।"

भोज ने सिर न उठाया, पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग, पर ये हाथ-हाथ भर के गढ़े



क्योंकर पड़ गए, सोने-चाँदी मे मोर्चा लगकर ये ईंट-पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि "राजा, क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली-ठोली नहीं मारी? अरे नादान, यह बोली-ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढों ही को देखकर रोता है, पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियो से पार हो गए। जब अहकार का मोर्चा लगा, तो फिर यह दिखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ! स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच मे परवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत मे पड़ा, इन कमबख्तों को यहाँ किसने आने दिया ? सत्य बोला "राजा, सिवाय तेरे इनको यहाँ और कौन आने देगा ? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ है। तूने समझा था कि जैसे समुद्र मे लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी सकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ ! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच-विचार कोई नहीं आता जो जगकर्त्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड और भुनगे और साँप-बिच्छू और कीडे-मकोडे जो तुझे दिखाई देते हैं वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के सकल्प विकल्प हैं जो दिन रात

तेरे अंत करण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगों और साँप बिच्छू और कीड़े मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उडते रहे। क्या कभी तेरे जी मे किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बडाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उसपर दिल न चला ?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंढी साँस ली और अत्यत निराश होके यह बात कही कि इस संसार मे ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस ससार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस ससार मे पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं।" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा, तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्त्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने मे क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बह जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें

राजा खाने पहनने को दे सकता था, पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे-कट्टे मोटे-मुसंड खाते-पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूँस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते माँगते और शोरगुल मचाते-मचाते उसे तग कर डालते थे या दरबार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा-तिलक लगाकर उसे भक्त के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले-बुरे ग्रह बतलाकर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुदर कवित्त और श्लोक पढकर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन-दुखी दिखलाई देते जिनपर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चगा करा देना राजा के इख्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के दो बात कहने से ठढा और सतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लडके-लडकियों को देखता था जिन्हें वह पढा लिखाकर बडे बडे पापो से बचा सकता था। कभी उन गॉव और इलाकों को देखता था जिनमें कुएँ-तालाब और किसानो को मदद देने और उन्हे खेती-बारी की नई नई तरकीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका थोडी देर में घबड़ाकर

हाथों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किये हुए समझता था, पर उसने उन कर्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला "राजा, अभी से क्यों घबरा गया? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा, अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी-पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो, पर मैंने तो उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा— "ठीक पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता, तो फिर यह अशुद्ध क्यों रहता। जरा आँख उठाकर उस मूर्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई, तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि "मूर्ख, तूने जो

काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल-जगत्स्वामी घटघट-अंतर्यामी क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है ? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी काँप उठी, मानो उसी दम टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलय-काल का मेघ गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से अड़अड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा' कहके भोज जो चिल्लाया, तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से मे रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीगन राजा का यश गाने लगे, हरकारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा, पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने-बजाने की कुछ सुध बुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे-से अच्छे पंडित हों जल्द उनको

मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं। राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी, चोबदारों ने तीन पंडितों को, जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात-की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया। राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि "वह कौनसा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार! यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए, आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अधिक अपनी वाणी को परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यों आप फिर उस पर्दे को डालना चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है? बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते हैं जिन्हें सत्य ने खोला है? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा।"

इतने में दूसरा पडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनदस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारा-पार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे-छोटे कामो पर निगाह किया करता है, वह कृपादृष्टि से सारा बेडा पार लगा देता है।" राजा ने आँखे दिखलाके कहा कि "महाराज! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानो हरभोगपुर का राज करता है। इसी ससार में क्यों नहीं देख लेते, जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह कॉटे चुनता है। क्या उस लोक में, जो जैसा करेगा सर्वदर्शी घटघट-अन्तर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा? सारी सृष्टि पुकारे कहती है और हमारा अन्त करण भी इस बात की गवाही देता है। कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पडित आगे बढा और उसने यो जबान खोली कि "महाराज! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा कि जैसा हम लोग काम करते हैं। इसमें कुछ भी सदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फरमाते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किसलिए बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और वैकुठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा—"देवताजी, कल तक तो

मैं आपकी सब बात मान सकता था, लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौनसा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी का फुसला लेना तो सहज है, पर उस घटघट-अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे। जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है, तो फिर उससे पुण्य-कर्म कोई कहाँ से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है, तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइये जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न में रात को देखा था सब ज्यों का-त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडितजी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे, पर एक परदेसी आदमी सा, जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था, सोचता-बिचारता उठकर खड़ा हुआ और धीरे-से यों निवेदन करने लगा—"महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिये, पर उस राह को ढूँढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए, पर उसी से उस राह पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए। हे पाठक जनो! क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढ़ते हो और भगवान् से उसके

मिलने की प्रार्थना करते हो ? भगवान् तुम्हें शीघ्र ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अन्त करण का आशीर्वाद है।

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ। गहरे पानी पैठ ॥

—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द



एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस ससार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो वृथा स्वाँस मति खोय।
ना जाने या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर में एक दिन सब ससार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि-सूर्य भी नष्ट हो जायँगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्ति कमल ससार-सरोवर में रहे वा न रहे, और सब तो एक दिन तप्त तवे की बून्द हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परतु थोडी ही देर मे समझ में आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार

इससे बडी कोई मूर्खता नहीं, और यह तो मुझे भली भाँति मालूम है कि यही अँगरेजी शिक्षा रही तो मदिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पडा। फिर पडे-पडे पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बडे काँटे निकले, क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट "क्रिटिक" काटकर आधी से अधिक निगल जायँगे। यश के स्थान शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाडिली नींद को दो रात पडोसियों के घर भेज आँख बन्द कर शभु की-सी समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। अन्त को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ मे पड गई। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ किया। परन्तु जब थैली मे हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाडी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं, इतने मे मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट मित्रों की भी सहायता लेनी पडी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटो के ठौर मुहर चुनवा लेते, तब भी तो दस-पॉच रेल रुपये और खर्च पडते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमे जितना व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु इतना अपने मुशी से मैंने सुना था कि एक का अक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पडे थे। बनने को तो एक क्षण में सब बन गया था, परन्तु उसके काम जोड़ने में पूरे

न वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई,
दिन हमने हिमालय की कदराओं में से खोज खोजकर
क उद्दण्ड पडित बुलवाये, जिनकी सख्या पौन दशमलव से
क नहीं है। इस पाठशाला में अनगनित अध्यापक नियत
गये, परतु मुख्य केवल ये है—पडित मुग्धमणि शास्त्री तर्क-
:पति, प्रथम अध्यापक। पाखण्डप्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक
ास्त्र। प्राणान्तकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यकशास्त्र, लुप्त-
त ज्योतिषाभरण, अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल
र्पण, अध्यापक नीतिशास्त्र और आत्मविद्या।

न पूर्वोक्त पडितों के आ जाने पर अर्ध रात्रि गये पाठशाला
ने बैठे। उस समय सब इष्ट मित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर
ोटि धन्यवाद दिया, जो ससार को बनाकर क्षण-भर में नष्ट
ता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता
, परनिन्दा आदि परम गुणों से इस ससार को विभूषित
है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सम्मुख
स्वार्थरत चित्त की प्रशसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे
विद्यालय की नींव पडी। उस ईश्वर को ही अगीकार था
ारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की
में समुद्र में डूबते-डूबते बचे थे, तब कौन जानता था कि
कपोल-कल्पना सत्य हो जायगी। परन्तु ईश्वर के अनुग्रह
ारे सब सकट दूर हुए और अत समय हमारी अभिलाषा
ई। हम अपने इष्ट मित्रो की सहायता को कभी न भूलेंगे कि

जिनकी कृपा से इतना द्रव्य हाथ आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया, और दस-पाँच पीढी तक संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र, परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनो, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन, मन से आप इस धर्म-कार्य में प्रवृत्त हुए, नहीं मैं दो हाथ पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता? यहाँ तो घर की केवल मूँछें ही मूँछे थीं। कुछ मेह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किये। हे सुजन शुभचिन्तको! संसार में पाठशालाएँ अनेक हुई होंगी, परंतु हरिकृपा से जो सकलपूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी, अचरज नहीं कि, आपने इस जन्म में न देखी-सुनी हो। होनहार बलवान् है, नहीं तो कलिकाल मे ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए, यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग के आदि में इन्द्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और बन-जंगलों में खोजता फिरा, अंत को हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य की महिमा थी कि वे ही पंडितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कंदरा में से पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा

करते दिन में सरस्वती भी लजाती है। इसमें सदेह नहीं कि इनके थोडे ही परिश्रम से पडित मूर्ख और अबोध पडित हो जायँगे।

हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पाखड प्रिय है। किसी समय इस देश मे इनकी बडी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषों को इन्होंने मोह रखा था, परतु अब कालचक्र के मारे अँगरेजी पढे हिंदुस्तानियों ने इनकी बडी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई मे हरित दूर्वा पर सतोप कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था, दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान शृगाल के सग दिन काटने पडे। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग थिर रह जाने देंगे, तो हरि-कृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन मे पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न, पडित प्राणान्तकप्रसाद भी प्रशसनीय पुरुष है। जब तक इस घट मे प्राण हैं, तब तक न किसी पर इनकी प्रशसा बन पडी, न बन पडेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त ससार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढते-चढते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीडित क्यों न हो, क्षण-भर मे स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक ओषधि नहीं देते, केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी विथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए। इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी।

यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बडे उद्दण्ड पडित हैं। ज्योतिष विद्या मे अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रथो की भी इन्होंने रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्रमकरालय" प्रसिद्ध और प्रशसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परंतु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पडित शीलदावानल नीतिदर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोडा-सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बाल ब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढते-पढाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुतसे महात्माओं ने पढी थी, परतु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन शिशुपाल, कस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पडता है, तो अँगरेज़ी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें। ऐसा तो सयोग इस ससार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लडकों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं, और दिया भी तो अभी

दस पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-सबधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नास लिया करें।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र



अग्नि का आविष्कार

अग्नि की सहायता से मनुष्य के जितने काम निकलते हैं, उनकी गणना करना बहुत ही कठिन है। तिसपर भी यदि अग्नि से निकलनेवाले कामो की उपयोगिता का ध्यान किया जाय, तो उसका महत्त्व और भी बढ जाता है। आजकल दियासलाई की सहायता से, जब और जहाँ जी चाहे, आग जलाई जा सकती है। आतशी शीशे का प्रकाश भी किसी केन्द्र पर डालकर अग्नि उत्पन्न की जाती है। प्राचीन काल में जब ये दोनों चीजें नहीं थी, तब लोग चकमक पत्थर को रगडकर अग्नि उत्पन्न किया करते थे। तात्पर्य यह कि जब से मनुष्य ने होश सँभाला, तब से वह बराबर उससे तरह-तरह के काम लेता रहा है। पहले तो केवल खाने-पकाने, सरदी से बचने, या प्रकाश आदि करने के लिये ही अग्नि का व्यवहार होता था, पर अब तो उसकी सहायता से रेल और जहाज दौड़ाये जाते हैं और बडे बडे कल-कारखाने चलाये जाते हैं। पृथ्वी पर मनुष्य की आबादी कितने दिनों से हैं, यह जानना बहुत ही कठिन है। उसी प्रकार भिन्न भिन्न पदार्थों के आविष्कार आदि का समय जानना भी बहुत मुश्किल है। विशेषत' यह जानना तो और भी अधिक दुस्तर है कि घर-घर जलनेवाली आग

का आविष्कार मनुष्य ने कब, कहाँ और किस अवस्था में किया था।

भारतवर्ष में धातु का आविष्कार होने से पहले पत्थर के औज़ारों और हथियारों आदि का व्यवहार होता था और उनके बनाने आदि में भारतवासियों ने बहुत उन्नति की थी। प्राय सभी देशों और जातियों के इतिहासों में ऐसे युग मिलेंगे जिनमें आदिम निवासी इसी प्रकार के औज़ारों और हथियारों आदि से काम लेते थे। मनुष्य-समाज की यह अवस्था बहुत ही आरम्भ में थी। पीछे अनेक युगों में नये-नये आविष्कार होते गये और मनुष्य-जाति बराबर उन्नत और सभ्य होने लगी। ससार के सभी देशों और जातियों के भिन्न-भिन्न युगों का यदि क्रम लगाया जाय, तो वर्षों में उनका हिसाब करना और वर्षों की सख्या नियत करना प्राय' असभव ही होगा। तिसपर अग्नि का आविष्कार तो बहुत ही पुराना है, और अनुमान किया जाता है कि यह आविष्कार सभवत कम-से कम पाँच करोड वर्ष से पहले और दस करोड वर्ष के इधर हुआ होगा।

अग्नि के आविष्कार अथवा प्रादुर्भाव के कारण मनुष्य जाति की उन्नति में बहुत बड़ी सहायता मिली है। पर यह न समझना चाहिए कि मनुष्य ने इसका पता एकबारगी ही लगा लिया होगा। नहीं, उसका ज्ञान प्राप्त करने और उपयोगिता समझने में ही उसे अनेक युग बीत गये होंगे। कई बार ऐसा भी हुआ होगा कि मनुष्य उसका उपयोग जानकर भी भूल गया हो और उसे फिर से उसका

उपयोग और महत्त्व जानना पडा हो। आजकल आग जलाना बहुत ही सीधी और सहज बात हो गई है। थोडा-सा सूखा घर, कुछ सूखे हुए पत्ते, एकाध टुकडा कागज या जरा-सा कोयला ही आग सुलगाने के लिये यथेष्ट होता है। बस एक दियासलाई का काम है। अब चाहे आप उसपर भोजन पका लीजिये और चाहे सरदी से बचने के लिये उससे कमरा गरम कर लीजिए। जब आग जरा ठढी पड़ने लगे, तब उसपर थोडी-सी लकडियाँ, पत्तियाँ या कोयले डाल दीजिए, वह फिर दहकने लगेगी। पर आरम्भ में थोड़ी-सी लकडियाँ या पत्तियाँ डालकर आग को बुझने न देना उतना सहज नहीं था, जितना सहज आजकल हम और आप उसे समझते हैं। ढेर-सी आग सुलगा दीजिये और उसके पास लकडियाँ, पत्तियाँ या कोयले रख दीजिए। जब सरदी लगेगी, तब बिल्ली या कुत्ता उसके पास तो आकर बैठ जायगा, पर जब वह आग बुझने लगेगी, तब और लकड़ियाँ, पत्तियाँ या कोयले डालकर उसे फिर से सुलगाना उस बिल्ली या कुत्ते को कभी न सूझेगा। किसी होशियार कुत्ते या बन्दर को, सभव है कि, बुझती हुई आग फिर से सुलगाना सिखलाया जा सके, पर उसमें सबसे पहले एक सिखलानेवाले की जरूरत पड़ेगी। प्राचीन काल में मनुष्य को ऐसा गुरु भला कहाँ मिल सकता था जो उसे आग सुलगाना सिखलाता। उसे तो स्वय अपने ही ज्ञान और अनुभव से सब कुछ सीखना पड़ा था।

प्राचीन काल में मनुष्य को सबसे बड़ी शिक्षा उसकी

आवश्यकता ही दे सकती और देती थी, किन्तु आवश्यकता कितनी ही प्रबल क्यों न हो, वह कोई उपाय नहीं बतला सकती। यह मानना ही पडता है कि बहुत आरम्भ मे मनुष्य बहुत ही कम समझदार और अनेक बातों मे पशुओं से मिलता-जुलता ही होता था और वह किसी बात को अनेक बार जानकर भी जल्दी भूल जाता था।

वह आग में लकडी फेंकता था और आग जल उठती थी। पर केवल इतने से ही वह यह नहीं समझ सकता था कि लकडी फेंकने के कारण ही आग जली है। नई लकड़ी फेंकने पर पहले जब आग सुलगी होगी, तब शायद मनुष्य यह तो भूल गया होगा कि मैंने लकडी उसपर फेंकी थी और वह खडा होकर आग सुलगने का तमाशा देखने लगा होगा। आग कैसे और किन चीजों से जलती है, इसका तो उसे उस समय ज्ञान था ही नहीं, इसलिये वह उसपर हरी हरी टहनियाँ या पत्थर भी फेंकता रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जब तक अच्छी तरह समझ में न आ जाय या बार-बार अनुभव करने के कारण ज्ञान न बढ जाय, तब तक किसी जानवर या बच्चे के लिए आग बुझने न देना और उसे बराबर सुलगाते रहना असभव ही है। यही बात उस समय मनुष्य के साथ भी हुई होगी। अग्नि के आविष्कार के सम्बन्ध में इतनी बातें हैं, जिन्हें देखते हुए यह मानना पडता है कि उनमें से प्रत्येक बात को मनुष्य बहुत बडा आविष्कार या उन्नति समझता रहा होगा और प्रत्येक बात को जानने या समझने में उसे बहुत समय लगा होगा।

में लेकर उसे किसी आक्रमणकारी चीते के मुँह के आगे कर दिया होगा और उससे डरकर पीछे हट जाने पर उसने समझा होगा कि उसे पत्थर फेंककर भगाने की अपेक्षा अधिक उत्तम उपाय यही है।

आग को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की युक्ति जानना भी बडा भारी काम था। पहले-पहल जलती हुई लकडी हाथ में उठा लेने की सहज में किसी की हिम्मत ही न पडेगी, और फिर यदि साहस करके कोई उसे उठा भी ले तो आवश्यकता या अडस पडने पर वह उसे छिपावेगा कहाँ? आग को अधिक समय तक सुरक्षित रखने के लिये किसी ऐसे पदार्थ की आवश्यकता होती है जो बहुत धीरे-धीरे और अधिक समय तक सुलगता रहे और जिसकी अग्नि इच्छानुसार सहज मे प्रज्वलित हो सके। उस चीज के अभाव मे लोगों को कितने दिनो तक यो ही भटकना पडा होगा और कितने कितने चक्कर लगाने पडे होंगे।

कई ऐसे प्राकृत साधन भी हैं जिनसे अग्नि प्राप्त होती है। एक साधन तो ज्वालामुखी पर्वत है, और दूसरा जगलों में लगनेवाली आग है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ की मिट्टी के नीचे एक प्रकार की भभकनेवाली गैस दबी रहती है। उन स्थानों से ऐसी गैस बहुधा निकला करती है जो बहुत जल्दी अग्नि का रूप धारण कर सकती अथवा कर लेती है। जिन स्थानों पर नीचे कोयले की खानें आदि होंगी, वहाँ भी समय-समय पर प्राकृत अग्नि मिल सकेगी।

कुछ लोगों का यह मत है कि मनुष्य ने पहले-पहल रगड़कर आग उत्पन्न करना सीखा, और कुछ लोगों का कहना है कि उसने आघात से उत्पन्न होनेवाली आग का सबसे पहले अनुभव किया, पर किसी प्रकार निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से किसकी बात ठीक है। चकमक या लोहे आदि को रगड़कर अग्नि उत्पन्न करना सहज तो अवश्य है, पर कठिनता यह है कि उस समय चकमक और लोहे का आविष्कार ही नहीं हुआ था। कई तरह के ऐसे पत्थर होते हैं, जिनमें गंधक आदि का कुछ अंश मिला रहता है और जिनपर भारी आघात पड़ने से चिनगारियाँ छूटती हैं। पर मनुष्य को उनके द्वारा आग सुलगाने का ज्ञान होना भी कठिन है, क्योंकि एक तो उस समय लोगों को ऐसे पत्थरों का ज्ञान होना ही कठिन था, और दूसरे इसके लिए ऐसी चीजों की भी आवश्यकता थी जो एक चिनगारी के पड़ते ही चटपट आग पकड़ सकें। साधारण पत्थरों पर जब तक भारी आघात न पहुँचेगा, तब तक उनमें से चिनगारियाँ न निकलेंगी। दियासलाई की तरह की कोई चीज तैयार होना तो बहुत ही कठिन काम है। अभी यदि आपसे दियासलाई बनाने की बात कही जाय, तो कैसी जल्दी और बहादुरी से आप चटपट कह देंगे कि हम इस प्रकार बना लेंगे। पर वास्तव में उसका तैयार करना कैसा कठिन है, यह बहुत ही कम लोग जानते हैं।

आजकल चकमक, लोहे आदि से प्राय बहुत ही कम काम लिया जाता है। या तो कुछ अशिक्षित और असभ्य लोग उसका

व्यवहार करते हैं और या कुछ विशिष्ट उत्सवों या पर्वों आदि पर उनका उपयोग होता है। बाकी सब जगह दियासलाई का ही राज्य है। विलायत में इधर कुछ जेबी केस बने हैं जिनका ढकना खोलते ही उसके भीतर लगे हुए लोहे से एक रेती रगड खाती है। उस रगड से चिनगारी उठती है और उससे एक छोटा स्पिरिट का लम्प जल उठता है। भारत के बाजारों में भी इस तरह आप-से-आप जल उठनेवाले कई तरह के छोटे लम्प सस्ते दामों में मिलते हैं। आतशी शीशे से भी आग उत्पन्न की जाती है। एक और तरह का पम्प होता है, जिसमें से हवा के दबाव के कारण आग निकलती है। पर ये सब बहुत ही हाल के आविष्कार हैं। बारूद का आविष्कार अवश्य ही कुछ पहले हुआ था, पर उससे आग उत्पन्न करने के लिए पहले पलीता या इसी तरह की और कोई चीज चाहिए। और आघात से सहज में उससे आग नहीं उत्पन्न की जा सकती।

यहाँ यही बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि आग का उपयोग जानने और उससे काम लेने में मनुष्य कितने धीरे-धीरे अग्रसर हुआ है। इसका मुख्य कारण यह था कि बहुत प्राचीन काल में पहले तो मनुष्य में इतनी योग्यता ही नहीं थी कि वह किसी घटना को देखकर कोई सिद्धान्त निकाल सके। इसके अतिरिक्त उस सिद्धान्त को स्मरण रखने और आवश्यकता पडने पर उससे काम लेने में भी उस समय वह असमर्थ ही था। ये सब बातें शिक्षा के अभाव के कारण ही थीं। उस समय उसमें न तो

बुद्धि ही थी और न तर्क वितर्क आदि की शक्ति ही, और इन्हीं सब कारणों से उन्नति में बहुत बड़ी बाधा पड़ती थी।

आजकल दियासलाई के बिना काम चलाना बहुत कठिन होता है। इतना ज्ञान बढ़ने और इतनी उन्नति होने पर भी सभ्य जातियों को दियासलाई का आविष्कार करने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उन्हें देखते हुए उन कठिनाइयों का अनुमान करना चाहिए, जो बहुत प्राचीन, अंध और अज्ञात काल में किसी असभ्य और अशिक्षित जाति को अग्नि का आविष्कार करने में झेलनी पड़ी होंगी। उन्नीसवीं शताब्दी तक लोग चकमक और लोहे आदि की सहायता से ही आग जलाते थे। सन् १८२७ में पहले-पहल एक तरह की दियासलाई बनी थी जो बहुत कम और वह भी एक शिलिंग (आठ आने) की एक बक्स मिलती थी। फास्फोरस का आविष्कार सत्रहवीं सदी में हुआ था। इससे पहले अवश्य ही अधिक कठिनाइयाँ थीं।

सन् १८६०–७० में भारत में दियासलाई का बक्स एक आने को मिलता था। आजकल तो दो-तीन आने में दियासलाई के एक दर्जन बक्स मिलते हैं, जिनमें से हरएक बक्स में साठ या अस्सी सलाइयाँ होती हैं। इतने सस्ते मिलनेवाले सलाई के बक्स में की प्रत्येक सलाई के सम्बन्ध में यह बात प्राय निश्चित ही है कि वह एक सेकंड के भीतर अवश्य ही आग उत्पन्न कर देगी। सलाई का आविष्कार करने में केवल इसी बात की आवश्यकता थी कि उसके सिरे पर कोई ऐसी चीज लगी रहे जो जरा-सी

रगड खाते ही जल उठे। पहले तो किसी ऐसे सम्मिश्रण की आवश्यकता थी जो रगड खाने से एकदम भभक न उठे, बल्कि सहज में आग धर ले। तदुपरान्त यह समस्या उपस्थित हुई कि उस उपन्न आग को पकड़ने और ठहराने के लिए लकडी की सलाई का व्यवहार किया जाय या लपेटे हुए कागज़ का। किसी ऐसी चीज की भी आवश्यकता थी जिसपर रगडने से अग्नि उत्पन्न हो। यह भी आवश्यक था कि वह सम्मिश्रण सलाई पर इस प्रकार लगाया जाय कि आवश्यकता पडने पर वह चट-पट रगडा जा सके और उससे आग निकाली जा सके। रगडने के समय सम्मिश्रण को उस सलाई पर भी लगा रहना चाहिए। स्वय समिश्रण में इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह सलाई को जला सके, और सलाई ऐसी होनी चाहिए जो सहज में जल सके और कुछ देर तक बराबर जलती रहे। सलाई को नमी और सील आदि से भी बचाना चाहिए। रगडने के उपरान्त उसका जलता हुआ सिरा गिर न जाना चाहिए, और अधिक रक्षा के लिये यह भी आवश्यक है कि वह केवल उसी बक्स पर रगडने से ही जले, सब जगह रगडने से नहीं। यह भी न होनी चाहिए कि गरमी आदि के कारण वह आप-से-आप जल जाय। लकडी भी उसके लिए ऐसी होनी चाहिए जो ज़रा से झटके में टूट न जाय, सहज मे उसकी सलाइयाँ बन सकें, और वह अधिक मान में मिल भी सके। उसमें किसी तरह का विष भी नहीं होना चाहिये, इत्यादि।

—रामचन्द्र वर्मा

तीन भाषण

द्रौपदी ने मन ही मन कहा—कठोर उपालम्भ द्वारा राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए यह मौक़ा बहुत अच्छा है। उसने सोचा कि ऐसे उपालम्भ को सुनकर युधिष्ठिर को अवश्य ही क्रोध आ जायगा और वे दुर्योधन आदि शत्रुओं से उनके द्वारा किये गये अपकारों का बदला लेने के लिए अवश्य ही तैयार हो जायँगे। वह बोली—

"महाराज, आप राजा हैं। आप नीतिज्ञ हैं। आप विद्वान् हैं। आप समझदार हैं। मैं एक तो अज्ञ, दूसरे स्त्री हूँ। यदि मैं आपके सामने कोई हित की भी बात कहूँ, तो मेरा ऐसा कहना भी अनुचित ही समझा जायगा। सम्भव है, उसे आप अपनी निन्दा या तिरस्कार समझें। अतएव ऐसे विषय मे मुझे कुछ भी न बोलना चाहिए था। परन्तु क्या करूँ, बिना बोले मुझसे रहा ही नहीं जाता। शत्रुओं ने वस्त्र हरण और केशाकर्षण आदि के रूप मे मेरी जो विडम्बना की है, उसकी याद आते ही मुझे दुःसह दुःख होता है। वही दुःख मुझे इस समय बोलने के लिए प्रेरणा कर रहा है। अतएव मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे इस उपालम्भ के लिए क्षमा करें।

"महाराज, आपके वश में जो राजा हो गये हैं, वे ऐसे-वैसे न थे। वे इन्द्र के सदृश तेजस्वी और इन्द्र ही के सदृश पराक्रमी थे। आप ही के वंशज ये परम-प्रतापी राजा चिरकाल से इस पृथ्वी का पालन करते आये हैं। परन्तु उसी वंश में आप ऐसे निकले कि इस चिरकाल से धारण की हुई पृथ्वी को अपने ही हाथ से इस तरह निकाल फेंका, जिस तरह कि मतवाला हाथी फूलों की माला तोड़कर अपने मस्तक से फेंक देता है। आप तो सभी के साथ साधुता का व्यवहार करने को तुले बैठे रहते हैं। मायावियों के साथ मायावी होना ही चाहिए। जो ऐसों के साथ भी सचाई का वर्ताव करते हैं, उनका पराभव हुए बिना नहीं रहता। बिना कवच के शरीर को छेदकर तीखे बाण जैसे मनुष्य के प्राण ले लेते हैं, वैसे ही भोले-भाले साधु स्वभाववाले मनुष्यों के हृदय में घुसकर शठ मनुष्य उनका नाश किये बिना नहीं रहते।

"मैं आपकी बुद्धि की कहाँ तक प्रशंसा करूँ। आप अपने को क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न समझते हैं या नहीं? आपको अपने क्षत्रियत्व का कुछ भी अभिमान है या नहीं? आपको बन्धु-बान्धव और सेना-समूह आदि किसी भी साधन की कभी कमी नहीं रही। पृथिवी भी आपपर सब तरह अनुरक्त थी। प्रजा भी आपको जी से चाहती थी। फिर भी आपने इस अनुरागिणी वसुमती का परित्याग कर दिया। कुलीन, सुशील और मनोहारिणी पत्नी के सदृश अपनी राज्य-लक्ष्मी का हरण अपने शत्रुओं के द्वारा कराकर ही आपने कल की। आपके सिवा

ससार मे ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो परम्परा से प्राप्त हुई विवाहिता भार्या के सदृश अपनी राज्य-लक्ष्मी को इस तरह निकाल बाहर करे ? क्या आपको यही चाहिए था ?

"याद रखिए, जो मनुष्य क्रुद्ध होकर दण्ड और प्रसन्न हो कर अनुग्रह करने में समर्थ होता है, उसकी अनुकूलता सब लोग, आप ही-आप, बिना किसी प्रेरणा के, करने लगते हैं। बुरे आदमी दण्ड पाने के डर से और भले आदमी अनुग्रह की आशा से सदा ही उसके मन के अनुकूल काम करने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु जिसे कभी क्रोध आता ही नहीं, उसके स्नेह और सत्कार की कोई परवा नहीं करता। यदि ऐसे क्रोध-हीन मनुष्य ने किसी का द्वेष का किया अथवा किसी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उससे कोई डरता भी नहीं।

"ज़रा अपने छोटे भाई महारथी भीम की तरफ तो आँख उठाकर देखिए। यह वही भीमसेन है, जिसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता था और जो बहुमूल्य रथ पर ही सवार होकर बाहर निकलता था। यही अब काँटे बिछे हुए पहाड़ी पथों पर पैदल घूमता फिरता है और झाडियो के नीचे ज़मीन पर धूल में पडा लोटा करता है। आप अच्छे सत्यधन निकले ! आपके सत्यव्रत की मैं कहाँ तक प्रशसा करूँ। देखिए, महापराक्रमी धनञ्जय की भी दुर्गति हो रही है। वह भी आप ही के कारण। यह वही धनञ्जय है, जो सारे उत्तर-कुरु देश को जीतकर हीरे, पन्ने, लाल आदि अकृत्रिम रत्नों की राशियाँ

वहाँ से ले आया था। लेकर उसने उन रत्नों को आप ही नहीं रख लिया, उन्हें आप ही को दे डाला। परन्तु इसका बदला आपने बहुत ही अच्छा दिया! इस इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन से आप अपने पहनने के लिये पेडों की छाल मँगाया करते हैं! अच्छा काम उसे आपने सौंपा! कहाँ उसका वह पराक्रम, कहाँ वल्कल लाने का यह काम! महाराज, अर्जुन की यह दैन्यावस्था देखकर भी क्या आपको दुःख नहीं होता?

"नकुल और सहदेव की दुर्दशा की भी सीमा नहीं। जङ्गल की इस कँकरीली भूमि पर लेटने के कारण, देखिए, उनके शरीर की कितनी दुर्गति हुई है! उनके शरीर कठोर हो गये हैं। उनपर सर्वत्र घट्टे पड गये हैं! धोये न जाने और तेल-फुलेल न लगने के कारण उनके बाल बेतरह रूखे हो रहे हैं। उनकी जटायें बन गई हैं। इतने पर भी आप अपनी सन्तोषवृत्ति का पीछा नहीं छोड़ते! प्रतिज्ञा पालन पर आप अब तक पूर्ववत् ही दृढ हैं! अरे, अब तो उसे छोड देते।

"जिस समय आप राजसी ठाठ से रहते थे उस समय आपके ये दोनों चरण रत्नों से जडे हुए सोने के महा-मूल्य सिंहासन की शोभा बढाते थे। बडे बडे माण्डलिक राजे आपके सामने उपस्थित होकर अपने मस्तक इन्हीं चरणों पर रखते थे। ऐसा करते समय उनके मस्तकों पर धारण की गई फूल-मालाओं के सुगन्धित फूलों के रज कण आपके चरणों पर गिर-गिरकर उनको रङ्गीन बना देते थे। हाय! आज आपके उन्हीं चरणों की दुर्दशा हो रही

है। उन्हीं से आज आप इस घास उगी हुई पहाड़ी भूमि पर सर्वत्र आया-जाया करते हैं। घास ही उगी भूमि पर क्यों, कँटीले कुश उगी हुई भूमि पर भी।

"महाराज, अब तो आप अपनी शान्ति को—अपनी क्षमा को—छोड़ दीजिये। इस सारे अनर्थ का कारण एकमात्र आपकी यह क्षमा ही है। उसका अब तत्काल ही परित्याग करके शत्रुओं के नाश के लिए तैयार हो जाइये। अपने क्षत्रिय तेज को फिर से स्वीकार कीजिये। प्रसन्न हो जाइये। बहुत भोग भोग चुके। अब बस। आप शायद यह कहें कि क्षमा से ही यदि काम बनता हो तो क्रोध करने की क्या आवश्यकता? परन्तु, सरकार, काम-क्रोध आदि षड्रिपुओं को जीतकर क्षमा से किसे सिद्धि प्राप्त होती है, यह भी आप जानते हैं? इस तरह की सिद्धि ऋषियों और मुनियों ही को प्राप्त होती है, क्षत्रियों को नहीं। सो भी कौन-सी सिद्धि? मोक्ष-सिद्धि, राज्य-सिद्धि नहीं। समझे। आपको मैं कहाँ तक समझाऊँ।

"आप तो तेजस्वी पुरुष हैं। मैं तो आपको तेजस्वियों में सबसे श्रेष्ठ समझती हूँ। कीर्त्ति भी आपकी कम नहीं। आप तो कीर्त्ति को ही अपना सर्वोत्तम धन समझते आये हैं। बल-पौरुष भी आपमें कम नहीं। इन सब बातों के होते हुए भी यदि आप शत्रुओं के द्वारा किये गये अति दुःसह पराभव को प्राप्त होकर भी क्षमा ही करते चले जायँगे—यदि आप सन्तोष ही को स्वीकार करते चले जायँगे—तो मैं यही समझूँगी कि आत्माभिमानी पुरुषों

का अभिमान, आश्रयहीन हो जाने के कारण, आज ही रसातल को चला गया। यदि शत्रुओं की बुराई का प्रतिकार करना आपको फिर भी अभीष्ट न हो तो मेरी अन्तिम प्रार्थना सुन लीजिये। यदि आपका यही विश्वास हो कि कुछ भी पराक्रम न करके चुपचाप बैठे रहना ही अच्छा है—क्षमा से ही सारे सुख-साधन प्राप्त हो जायँगे—तो एक बात कीजिये। आप अपने इस धनुर्बाण की तरफ आँख उठाइये। जानते है, यह किसके धारण करने योग्य है? यह क्षमाशीलो के हाथ मे रहने क लिए नहीं। राज्य लक्ष्मी के स्वामी राजा ही के हाथ में धारण करने के लिए है। इसे आप अभी फेंक दीजिये। आज से आप सच्चे क्षमाशील तपस्वी बनकर और जटाजूट बढ़ाकर इस जङ्गल में निरन्तर अग्निहोत्र किया कीजिये।

"हाँ, मुझे एक बात और कहनी है। मेरे इस निर्भर्त्सना पूर्ण उपालम्भ को सुनकर शायद मुझे आप अविवेकिनी समझें। शायद आप यह कहे कि 'बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास करने की प्रतिज्ञा तो अभी पूरी ही नहीं हुई। उसके पूर्ण हुए बिना पराक्रम करने और शत्रुओं से उनके दुष्कृत्यों का बदला लेने का तो अभी अवसर ही नहीं आया। फिर मैं इतना अकाण्ड-ताण्डव क्यों कर रही हूँ?' तो इसपर भी आप मेरी प्रार्थना सुन लीजिये। मेरा वक्तव्य यह है कि प्रतिज्ञा-पालन किया किसके साथ जाता है? जो स्वयं प्रतिज्ञा-पालन करता हो—जो स्वय सच्चा हो—उसके साथ न? शत्रु तो प्रतिज्ञा-पालन नहीं कर रहे। वे तो

बराबर छल-कपट करते ही जा रहे हैं। इस दशा मे आपके सदृश पराक्रमी पुरुष को प्रतिज्ञा-पालन की आन पर डटे रहना सर्वथा अनुचित है।"

द्रौपदी की बातें सुनकर भीमसेन बहुत प्रसन्न हुए। उनको उसकी बातें बहुत ही गौरवपूर्ण और हितकारिणी मालूम हुईं। अतएव द्रौपदी के भाषण का अनुमोदन करना उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझा। उन्होंने युक्ति-पूर्ण और प्रौढ वचनों में अपना कथन आरम्भ किया। वे धर्मराज युधिष्ठिर से बोले—

"महाराज! प्रियतमा द्रौपदी ने बहुत ठीक कहा है। उसे सचमुच ही क्षत्रिय कुल का बडा अभिमान है। अतएव उसे ऐसा कहना ही चाहिये था। जो कुछ उसने कहा, बिना विचार किये ही नहीं कहा, खूब सोच विचारकर जैसी युक्ति-युक्त, जैसी सुन्दर और जैसी हितोपदेश-पूर्ण बातें उसने कहीं, वैसी वाचस्पति बृहस्पति से भी न कहते बनतीं। मैं तो यही कहूँगा कि उसका कथन सर्वथा ग्राह्य है।

"द्रौपदी यद्यपि स्त्री है, तथापि उसके भाषण से यही सूचित होता है कि वह नीति शास्त्र के तत्त्वों से अच्छी तरह परिचित है। अतएव उसका कथन मेरी सम्मति में सर्वथा मानने योग्य है। द्रौपदी ने यद्यपि बहुत ही थोडे शब्दों मे अपना अभिप्राय प्रकट किया है, तथापि उसका भाषण स्वल्प होकर भी बहुत गुणकारी मालूम होता है। उसे मैं तो रामबाण ओषधि के सदृश समझता हूँ। ओषधि जिस तरह परिणाम में सुख देनेवाली होती है, वैसे

ही द्रौपदी का भाषण भी परिणाम में सुख देनेवाला है। ओषधि जैसे उत्तम गुणों से युक्त होती है, द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही गम्भीर अर्थों से युक्त है। ओषधि जैसे कडवी होती है, अतएव जैसे वह अच्छी नहीं लगती, द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही पराक्रमहीनों के लिए लाभदायक है। वह उन्हें अच्छा लगने योग्य नहीं, क्योंकि वह युद्ध के लिए उत्तेजना देनेवाले वाक्यों से लबालब भरा हुआ है। ओषधि जैसे थोडी होती है द्रौपदी का भाषण भी वैसे ही थोडा है। ओषधि में जैसे आरोग्य और शक्तिवर्द्धन आदि अनेक गुण होते हैं, द्रौपदी के भाषण में भी वैसे ही शत्रु-नाश और राज-लाभ आदि अनेक गुण हैं। अतएव उसका कहना सर्वथा ग्रहण करने योग्य है।

"महाराज! आप तो आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड-नीति, इन चारों विद्याओं में पारगत हैं। अतएव, आप यह अवश्य ही जान सकते हैं कि कौन बात सत् और कौन बात असत् है। आप जैसे विद्वानों की बुद्धि सदसद्विचारशालिनी होनी ही चाहिए। फिर भी, मैं नहीं जानता, क्यों वह कीचड में फँसी हुई हथिनी के सदृश अविवेक में डूबकर नष्ट-सी हो रही है?

"महाराज! जिसकी यह इच्छा होती है कि मेरा अभ्युदय हो, वह यदि बुद्धिमान् है तो और ही तरह की नीति का अवलम्बन करेगा। यदि उसे यह मालूम हो जायगा कि शत्रु का उत्कर्ष, फिर चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न हो, अन्त में अनर्थकारक ही

होगा, तो वह उसका कुछ भी प्रतीकार न करके चुपचाप बैठा रहेगा। वह सोचेगा, इस उत्कर्ष के बाद जब शत्रु का आप ही आप अपकर्ष होनेवाला है, तो व्यर्थ परिश्रम करके उसे जीतने की क्या आवश्यकता? परन्तु यदि बुद्धिमान् मनुष्य को यह मालूम हो जायगा कि इस समय शत्रु की सम्पत्ति का नाश तो बड़े वेग से हो रहा है, परन्तु, कुछ दिनों के बाद, उसके उत्कर्ष की सम्भावना है, तो वह पल-भर भी चुप न बैठेगा। वह तत्काल ही पराक्रमपूर्वक अपने शत्रु पर आक्रमण करके उसे अपदस्थ कर देगा। अतएव, महाराज! शत्रु के वर्तमान उत्कर्ष अथवा अपकर्ष को आप न देखिये। इस समय उसके प्रतीकार अथवा उपेक्षा की आवश्यकता है या नहीं, इसका जरा भी विचार न कीजिये। आप शत्रु की भावी स्थिति पर विचार करके जो कुछ उचित हो कीजिये।

"आप शायद यह सोचते होंगे कि हम लोग बलहीन हैं और हमारा शत्रु बहुत बलवान् है। इस दशा में हम उसका सामना कैसे कर सकेंगे? परन्तु, भाई! आपकी यह शङ्का निर्मूल है। बात यह है कि उत्साह से ही सारे काम होते हैं। जिसमें उत्साह नहीं उसे कार्यसिद्धि की आशा ही छोड़ देनी चाहिये। द्वितीया के चन्द्रमा को देखिये। वह क्षय को प्राप्त होकर, फिर भी, जब सारे संसार को सुख देनेवाली अपनी स्वाभाविक कला को धारण करता हुआ उदित होता है और उत्तरोत्तर बढ़ने की इच्छा रखता है तब सभी लोग उसे नमस्कार करते हैं। इसी तरह क्षीण शक्ति राजा भी जब अपना स्वाभाविक क्षत्रिय तेज धारण करके अपनी

समृद्धि प्राप्ति के लिए उत्साह दिखाता है तब प्रजा उसके सामने अपना मस्तक झुकाये बिना नहीं रहती। सम्भव है, आप इसपर भी कुछ आक्षेप करें। आप शायद कह बैठें कि 'हम लोगों में प्रभुता-सम्बन्धिनी शक्ति का तो सर्वथा अभाव है, फिर उत्साहित होकर कोई काम करने से क्या लाभ ? इस दशा में विजय की आशा रखना अविवेक के सिवा और कुछ नहीं।' इसपर भी मुझे कुछ निवेदन करना है। यह सच है कि सब बातों का विचार करके ही जब नीति की योजना की जाती है तभी वह फलवती होती है। यदि पहले इस बात का विचार कर लिया जाता है कि कार्य का आरम्भ किस तरह करना चाहिये, अपने पास धन और सैन्य कितना है, शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए कौनसी जगह और कौनसा समय उपयुक्त है, विघ्न-बाधाएँ आने पर वे दूर की जा सकती हैं या नहीं, और अन्त में फल-सिद्धि की आशा भी है या नहीं—तभी नीति की योजना राजा के कोष, यश और सैन्य की बढ़ानेवाली होती है। इसे मैं मानता हूँ। परन्तु जैसे कृषि और वाणिज्य आदि करनेवालों के लिए प्रारब्ध की अपेक्षा रहती है, वैसे ही राजा के लिए भी आलस्य-त्याग और उत्साह-धारण की अपेक्षा रहती है। बिना उत्साह के नीति-शास्त्र के पन्ने उलटने और उनपर विचार करते रहने से ही सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती। आप इस बात को स्मरण रखिये कि उत्साह ही सारे सुखों का मूल है। अतएव आपको उत्साह का अवश्य ही आश्रय लेना चाहिये।

"आप यह कह सकते हैं कि 'उत्साह दिखाने से ही अनर्थ नहीं टाला जा सकता। यथेष्ट साधन न होने से उत्साह क्या करेगा ?' इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि क्षत्रियों के लिए राजत्व का पद सबसे अधिक प्यारा है। ऐसे श्रेष्ठ पद की प्राप्ति के लिए अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्ति के लिये धैर्यवान् और अभिमानी पुरुषों को चाहिये कि वे अनर्थ टालने के लिए अपने ही पराक्रम पर भरोसा रक्खें, साधनों की परवा न करें। शूरवीर क्षत्रिय कोष और सैन्य आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। राज्य-प्राप्ति के लिए उन्हें जो कुछ करना होता है, एकमात्र अपने बल-पौरुष के भरोसे करते हैं। मेरी सम्मति में तो पराक्रम ही सबसे बड़ा साधन है। पराक्रमी पुरुषों को ही सारी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। जो पराक्रमहीन है—जिसे अपने बल का भरोसा नहीं—उसे बार बार विपत्तियों की दलदल में फँसना पड़ता है। अत उत्साह धारण करके आप उद्योग का आरम्भ कर दीजिये। सारी समृद्धियाँ पराक्रमी पुरुष को ही प्राप्त होती हैं।

"आप शायद यह समझते होंगे कि 'व्यर्थ पराक्रम करने की क्या आवश्यकता ? प्रतिज्ञा की अवधि पूर्ण होने पर हमारा राज्य हमें मिल ही जायगा।' यदि आपके विचार ऐसे ही हों, तो आप इस प्रकार आकाश में किले बाँधना छोड़ दीजिये। आपकी यह आशा कभी सफल होने की नहीं। क्या आप अपनी आँखों नहीं देख रहे कि धृतराष्ट्र का बेटा दुर्योधन किस प्रकार सारे संसार

के सामने ही हमारे साथ कपट का व्यवहार कर रहा है ? ऐसा कपटी आदमी तेरह वर्ष तक राजसी सुख भोगकर भला क्या हमें हमारा राज्य लौटा देगा ? इस अन्ध-सुत दुर्योधन ने कपट करके ही हम लोगो से हमारा राज्य छीन लिया। यह जो कुछ हुआ सो हुआ, अब भी तो खुल्लमखुल्ला हमारे साथ छल-कपट कर रहा है। ऐसे आदमी से अपने राज्य को फिर पाने की आशा तक करना हमारी बहुत बडी भूल है।

"हाय हाय ! क्या हम लोगों में पशुओं की जैसी भी मनस्विता नहीं ? देखिए, हरिण आदि जङ्गली पशुओं का राजा सिंह भी मदोन्मत्त हाथियो को स्वय मारकर अपनी उपजीविका करता है। दूसरे के मारे हुए शिकार को वह कभी छूता तक नहीं। चाहिये भी यही। अपने तेज से और सब लोगों को तेजोहीन करनेवाला तेजस्वी पुरुष इस बात की कभी स्वप्न में भी इच्छा नहीं रखता कि दूसरे की कृपा से उसे सुख और ऐश्वर्य मिले। वह उनकी प्राप्ति अपने ही भुज-बल और अपने ही पराक्रम से करता है। अतएव, महाराज, साम आदि उपायों की बात अपने हृदय से एकदम दूर कर दीजिये। धनुर्बाण उठाइये और दुष्ट दुर्योधन से अपना राज्य छीन लेने के लिए तैयार हो जाइये।

"महाराज ! आपकी बुद्धि पर प्रमाद-जन्य अन्धकार का परदा सा पड गया है। उदासीनता ने आपकी बुद्धि को कुठित-सा कर दिया है। आप अपनी बुद्धि के इस मोहरूपी आवरण को तत्काल हटा दीजिये। अपना बल-विक्रम दिखाने के लिए शीघ्र

ही तैयार हो जाइये। शत्रु जो आनन्द से राज्य सुख का उपभोग कर रहे हैं—उनके सङ्कटों का जो एकदम नाश सा हो गया है—इसका एकमात्र कारण आपका अनुराग और आपका अनुत्साह है। इसे आप ध्रुव सत्य समझिये। यदि आप कुछ भी उद्योग करते,तो शत्रु सब तरफ से विपत्तियों के फन्दे में फँसे बिना न रहते। न मालूम कब उनका नाश हो गया होता।

"महाराज! आप इस शङ्का को अपने हृदय मे एक क्षण के लिए भी स्थान न दीजिये कि युद्ध करने स आपको शत्रुओं से हार खानी पडेगी। *मतवाले चार दिग्गजों* और *विस्तीर्ण चार* समुद्रों के सदृश, पृथ्वी के कोन-कोने में विख्यात, इन्द्र के सदृश महापराक्रमी, आपके हम चारों छोटे भाई आपके लिए प्राण देने को तैयार हैं। आप ही बताइय, शत्रुओं के पक्ष में क्या एक भी वीर ऐसा है जो समर भूमि मे हमारा सामना कर सके? अतएव आप दुबिधा को दूर करके अब नि शङ्क युद्ध की तैयारी कर दीजिय। मुझे विश्वास है कि इसका फल अच्छा ही होगा।"

युधिष्ठिर तो बहुत बडे राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने देखा कि शत्रुओं के किये हुए अपकार का स्मरण करके भीमसेन के हृदय में विकार उत्पन्न हो गया है। अतएव वे क्रोध से उन्मत्त हो उठे हैं। यह सोचकर उन्होंने मतवाले हाथी के सदृश ही उन्हें धीरे धीरे शान्त करना आरम्भ किया। उन्होने मन मे कहा कि युक्ति से भीमसेन की सान्त्वना करनी चाहिए। उन्हें फटकारने से काम न चलेगा। वे बोले—

से दूर कर दे। बिना ऐसा किये उसका अभ्युदय नहीं हो सकता।

"किसी-किसी की यह राय है कि जो दुर्बल है, उसी को क्रोध का त्याग करके युक्ति से अपना काम निकालना चाहिये। जो बलवान् है, उसे क्रोध त्याग की क्या आवश्यकता? क्रोध से उसकी कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि उसे तो अपने शौर्य्य और पराक्रम ही से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह राय ठीक नहीं। इससे मैं सम्मत नहीं। जो लोग क्रोध से उत्पन्न हुए तमो-रूपी मोह का नाश किये बिना ही, केवल अपने पराक्रम के भरोसे, कोई काम करते हैं, उन्हे कभी सफलता नहीं प्राप्त होती। कृष्ण-पक्ष जिस तरह चन्द्रमा की सम्पूर्ण कलाओं का नाश कर डालता है, उसी तरह एकमात्र शौर्य्य के भरोसे कार्य्यारम्भ करनेवाला क्रोधी मनुष्य प्रभु-शक्ति, मन्त्र शक्ति और उत्साह शक्ति, इन तीनों शक्तियों से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति का नाश कर डालता है। अतएव क्रोध का अवश्य ही त्याग करना चाहिए। उसकी उपेक्षा करने से कभी कार्य सिद्धि नहीं हाती। भाई भीमसेन, राजाओं को समान वृत्ति तो होना चाहिए, परन्तु प्रसङ्ग की बात उन्हे सदा ध्यान में रखनी चाहिये। यदि नरमी दिखाने का प्रसङ्ग हो तो नरमी का व्यवहार करना चाहिये। यदि कड़ाई दिखाने का प्रसंग हो तो कड़ा व्यवहार करना चाहिये। प्रसंग को देखकर ही उसे मृदुता या तीक्ष्णता को स्वीकार करना चाहिये। जो राजा इस तरह का व्यवहार करता है, वह अपने तेज से ही सब

लोगों को अपने वश में रख सकता है। सभी उससे डरते और सभी उसकी आज्ञा मानते हैं। सूर्य्य को देखो। यद्यपि वह अपनी तेजस्विता कभी नहीं छोड़ता, तथापि ऋतु विशेष में वह अपने तेज को घटा बढ़ा जरूर देता है। शीतकाल में वह मृदु और ग्रीष्मकाल में तीक्ष्ण हो जाता है। यही कारण है जो उसके तेज का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अतएव तेज के सम्बन्ध मे राजा को अपना व्यवहार सूर्य्य के ही सदृश रखना चाहिये।

"भीमसेन, तुम तो ऐसे न थे। पहले तो तुम्हारा मन इस तरह क्षुब्ध न होता था। पहले तो तुमने अपनी गम्भीरता से सागर तक का तिरस्कार कर दिया था। गम्भीरता में तुम उससे भी बढ़ गये थे। आज तुम इतने चञ्चल क्यों हो उठे?

"भाई, क्षमा से बढ़कर ससार में और कोई साधन नहीं। क्षमा का अवलम्ब करने से सुख की उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्राप्ति होती है, और आरम्भ किया गया काम यथासमय सफल हो जाता है। क्षमा को तो मै कार्य्यसिद्धि की जड़ समझता हूँ। उसमे एक और भी बहुत बड़ा गुण है। वह यह कि उसका कभी नाश नहीं होता, उसकी सहायता से शत्रुओं का अवश्य नाश हो जाता है। इस दशा म तुम्हीं कहो, क्षमा से बढ़कर कार्य्य सिद्धि मे सहायता देनेवाली और कौनसी वस्तु ससार मे है?

"तुम शायद यह समझते होगे कि जब तक हम लोग क्षमा-क्षमा कहते हुए चुपचाप बैठे रहेंगे, तब तक दुर्योधन सब राजाओं को अपने अनुकूल कर लेगा। फिर उससे पार पाना

असम्भव हो जायगा। परन्तु तुम्हारी यह शङ्का निर्मूल है। यादव कभी दुर्योधन के अनुकूल न होंगे। हम लोगों पर उनका निष्कपट स्नेह है। उनका यह स्नेह सर्वथा स्वाभाविक भी है। वे हमारे स्नेह-पाश में बँध से गये हैं। वे ऐसे-वैसे नहीं, बडे ही आत्माभिमानी हैं, उनके साथ हम लोग सदा से ही नम्रता का व्यवहार करते आये हैं। अतएव वे हमें छोडकर कभी दुर्योधन की अनुकूलता न करेंगे। हमारा उनका सख्य ही कुछ ऐसा है कि उसे वे त्रिकाल में भी तोडना न चाहेंगे। यद्यपि इस समय ऊपर से ऐसा मालूम होता है कि वे दुर्योधन ही के अनुकूल हैं, तथापि समय आने पर वे उसे छोडकर हमारी ही सहायता करेंगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यादव नही हीं, उनके बन्धु-बान्धव भी हमारी ही सहायता करेंगे। यादवों के मातृ-पितृ-पक्ष के सम्बन्धी तथा उनके नये-पुराने मित्र भी यादवो ही का अनुसरण करेंगे। इन लोगो मे से एक भी ऐसा नही, जो यादवों की बात का उल्लघन करे। इस समय ये लोग जो दुर्योधन की अनुकूलता कर रहे हैं, उसका कारण है। ये लोग दुर्योधन को भुलावा दे रहे हैं। अपनी नम्रता और अनुकूलता से अभी तो ये ऊपरी तौर से यह दिखा रहे हैं कि युद्ध का प्रसङ्ग आने पर हम लोग तुम्हारी ही सहायता करेंगे। परतु परिणाम में यह बात न होगी। उस समय ये लोग दुर्योधन को अवश्य ही छोड देंगे और यादवों के साथ हमारे पक्ष में आ मिलेंगे। इसका मुझे पूरा भरोसा है।

"भाई, दुर्योधन के साथ युद्ध करने का समय अभी न आया। इस समय उसके साथ युद्ध छेड़ देने से न यादव लोग हमारी सहायता करेंगे और न उनके मित्र ही। बात यह है दुर्योधन ने तेरह वर्ष बाद हमें राज्य लौटा देने की प्रतिज्ञा की है इस अवधि के पहले ही यदि हम लोग शस्त्र-ग्रहण करेंगे हमारा यह काम कभी न्याय सगत न माना जायगा, और अन्याय का पक्ष कोई भी समझदार आदमी नहीं ग्रहण करता। उदय होते ही सूर्य्य जैसे कमल के मुकुलों को फोड़ देता है, वैसे ही हम लोगों का असमय में शस्त्र ग्रहण यादवों और तत्पक्षी राजाओं का सख्य को फोड़ देगा। नियमोल्लघन करने के कारण फिर हम इन लोगों की सहायता से वञ्चित होना पड़ेगा।

"जिस वनवासी का हमने दुर्योधन का हाल जानने के लिए भेजा था उसने अवश्य ही दुर्योधन की सभी बातों की प्रशसा की है। उसके कथन से तो यही सूचित होता है कि दुर्योधन को रत्ती भर भी राज्य मद नहीं। उससे यह भी सूचित होता है वह अपने बन्धु बान्धवों, अपने इष्ट मित्रों और अपने नौकर-चाकरों से बहुत ही स्नेह करता है। सम्भव है, यह सब सच हो। परन्तु, फिर भी, दुर्योधन दुर्जन ही है। सम्पत्ति प्राप्त होने पर दुर्जन किसी-न किसी दिन अवश्य ही विपथगामी हो जाता है। ऐसे मनुष्य को राज्य का मद हुए बिना रहता ही नहीं। जिसका हृदय अहङ्कार से अभिभूत हो रहा है, जिसने कभी किसी काम का आरम्भ करके स्वय उसे सफलतापूर्वक

नहीं समाप्त किया, वह कुछ दिन चाहे भले ही आनन्द से सम्पत्तियों का उपभोग करे, पर सदा नहीं कर सकता। विनय और शालीनता के कारण उसकी सम्पत्तियों का नाश कुछ ही समय तक रुक सकता है, अधिक समय तक नहीं। कारण उपस्थित होने पर वह अवश्य ही अहङ्कार के वशीभूत हो जाता है। फिर वह विनय और शील आदि को भूल जाता है। इस अवस्था को पहुँचने पर उसे अवश्य ही विपत्ति-ग्रस्त होना पड़ता है। दुर्जनों का राज-मद परिणाम में कभी सुखकारक नहीं होता।

"राज-मद अत्यन्त अनर्थकारी है। राजा के हृदय में मद और अहङ्कार की उत्पत्ति होने पर मूढ़ता उसे अवश्य ही आ घेरती है, और मूढ़ मनुष्य को कार्य्य-अकार्य्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। अतएव मूढ़ता का आगमन होते ही मनुष्य न्याय्य मार्ग का उल्लंघन कर जाता है—वह अन्याय करने लगता है। और, अन्यायी राजा से प्रजा कभी सन्तुष्ट नहीं रहती। वह अवश्य ही उसकी प्रतिकूलता करने लगती है। प्रजा के प्रतिकूल होने पर मन्त्री लोग भी प्रतिकूल हो जाते हैं। अन्यायी राजा को कोई पसन्द नहीं करता, सभी उससे घृणा करते हैं। प्रजाजनों और मन्त्रियों के विरोधी बन जाने पर, राजा चाहे जितना पराक्रमी क्यों न हो, उसका समूल नाश करना बहुत ही सहज हो जाता है। तीव्र वायु के झोंकों से जिस वृक्ष के पत्ते, डालियाँ और तना आदि सभी अवयव हिल जाते हैं—शिथिल हो जाते हैं—उसे मन्द वायु भी सहज ही में उखाड़ फेंकता है। यही हाल अहङ्कारी, मदोन्मत्त और अन्यायी राजा का होता है। उसकी

प्रजा और मन्त्रि मण्डल के बिगड़ उठने पर वह निर्बल और सहायहीन हो जाता है। तब उसका जड़ से नाश करने में देर नहीं लगती। तब तो अल्प बल और अल्प साधन से युक्त भी शत्रु उसे, शिथिल हुए तृण के सदृश ही, उखाड़ फेंकने में समर्थ होता है।

"हमारे शत्रु दुर्योधन का उत्कर्ष यद्यपि उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, तथापि उसकी उपेक्षा करने ही में हमारी भलाई है। नीति कहती है कि राज-मद से मत्त हुए शत्रु का उत्कर्ष चाहे जितना अधिक बढ़ा हो, बुद्धिमान् मनुष्य को उससे भयभीत न होना चाहिये। दुर्विनीत शत्रु भले ही खूब बलवान् और खूब पराक्रमी क्यों न हो, दुर्विनीतता के कारण उसका वह बल और वह पौरुष समय पर कुछ भी काम नहीं आता। भेद-भाव का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर बहुत ही थोड़े उपायों से वह जीता जा सकता है। कारण यह है कि दुर्विनीत और मदमत्त पुरुष के पास सम्पदाएँ बहुत दिन तक ठहर ही नहीं सकतीं। अन्त में वे उसे स्वयं ही छोड़ जाती हैं। उनका पर्य्यवसान अनर्थकारी हुए बिना रहता ही नहीं।"

अपने शत्रु दुर्योधन के अभ्युदय का स्मरण करके क्षुब्ध हुए भीमसेन को युधिष्ठिर इस प्रकार नीतिशास्त्र सम्बन्धी रहस्य समझा ही रहे थे कि महामुनि व्यास वहाँ अकस्मात् आते दिखाई दिये।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

पण्डित श्रीसत्यनारायण कविरत्न

पण्डित सत्यनारायण, सरलता की—विनय की—मूर्त्ति, स्नेह की प्रतिमा और सज्जनता के अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अब तक याद है। सन् १९१५ ई० में (अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में) उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पण्डित मुकुन्दरामजी का तार पाकर वह ज्वालापुर आये थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालय में था। वह स्टेशन से सीधे (प० मुकुन्दराम के साथ) पहले मेरे पास पहुँचे। मैं पढा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आने की सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्त्ति को विनीत भाव से सामने उपस्थित देखकर मैं आश्चर्य चकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृन्दावनी बगलबन्दी, घुटनों तक धोती, गले में अंगोछा—यह वेषभूषा थी। आँखों से स्नेह बरस रहा था। भीतर की स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहट के रूप में चेहरे पर झलक रही थी। उस समय 'किरातार्जुनीय' का पाठ चल रहा था। व्यास-पाण्डव-समागम का प्रकरण था। व्यासजी के वर्णन

मे भारवि की ये सूक्तियाँ छात्रों को समझा रहा था—

'प्रसह्य चेत सु समासजन्तमसस्तुतानामपि भावमार्द्रम्'।

'माधुर्य विस्रम्भ विशेष भाजा कृतोपसभापमिवेप्सितेन'।

इन सूक्तियों के मूर्तिमान् अर्थ को अपने सामने देखकर मेरी आँखें खुल गई। इस प्रसग को सैकडों वार पढा, पढाया था, पर इसका ठीक अर्थ उसी दिन समझ मे आया। मैं समझ गया कि हो न हो, यह सत्यनारायणजी हैं, पर फिर भी परिचय प्रदान के लिये प० मुकुन्दरामजी को इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरन्त अपना यह मौखिक 'विजिटिंग कार्ड' हृदयहारी टोन में स्वय पढ सुनाया—

'नवल-नागरी नेह रत, रसिकन ढिंग बिसराम।
आयौ हौं तुव दरस कौं, सत्यनरायन नाम।

मुझे याद है, उन्होंने 'निरत नागरी' कहा था (सत्यनारायणजी की जीवनी में इसी रूप मे यह छपा भी है), 'निरत', 'रत' में पुनरुक्ति समझकर।मैंने कहा–'नवल नागरी' कहिये तो कैसा ? फिकरा चुस्त हो जाय। हस्बहाल मजाक (समयोचित विनोद) समझकर वह एक अजीब भोलेपन से मुस्कराने लगे, बोले— 'अच्छा, जैसी आज्ञा।'

यह पहली मुलाकात थी। इस मौके पर शायद दो दिन प० सत्यनारायणजी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुख से कविता-पाठ सुनने का अवसर भी पहली वार तभी मिला था।

सत्यनारायणजी से मेरी अन्तिम भेंट दिसम्बर १९१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालतीमाधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगों को—मुझे और साहित्याचार्य श्रीपण्डित शालग्रामजी शास्त्री को—सुनाने के लिये ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवाद की पुनरालोचना करके छपाने से पहले एक बार फिर दिखाने को कह गये थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन काल में दो बार मैं धाँधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक बार की यात्रा में श्री प० शालग्रामजी साहित्याचार्य भी साथ थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी दो-तीन बार मैं धाँधूपुर गया हूँ और सत्यनारायण की याद मे जी खोलकर रो आया हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार व्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छ महीने व्रज मे घूमें, व्रज की रज में लोटें, गाँवो में रहकर जीवित व्रजभाषा का अध्ययन करें, व्रजभाषा के प्राचीन ग्रथो की खोज करें, व्रज भाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोष तैयार करें। ऐसी बहुत-सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गई और हमारे जी में रह गईं। अफ़सोस!

"ख़्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।"

सत्यनारायणजी के कविता पाठ का ढग बडा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुनकर बेसुध-से हो जाते थे, वह स्वय भी पढते समय भावावेश की सी मस्ती में झूमने लगते थे। व्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली और सत्यनारायणजी

का कोकिलकण्ठ, 'हेम परमामोद', सोने-सुगन्ध का योग और मणि-काञ्चन का सयोग था। पठ्यमान—गीयमान—विषय का आँखों के सामने चित्र-सा खिंच जाता था और वह हृदय पट पर अङ्कित हो जाता था। सुनते सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य उत्तरोत्तर बढता जाता था। उच्चारण की निस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गम्भीरता, गले की लोच में सोज़ और साज़ तो था ही, इसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं मिलता। किसी शाइर के शब्दों में यही कह सकते हैं—

'जालिम मे थी इक और बात इसके सिवा भी।'

सत्यनारायणजी के श्रुति मधुर स्वर मे सचमुच मुरली-मनोहर के वशीरव के समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुननेवालों पर जादू का सा असर करती थी। सुननेवाला चाहिये, चाहे जब तक सुने जाय, उन्हें सुनाने में उज्र न था। एक दिन हम लोग उनसे निरन्तर ६-७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी न वह थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण स्वाभाविक सादगी के पुतले थे, गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली भाली सूरत, ग्रामीण वेष भूषा, बोल चाल में ठेठ व्रजभाषा देख सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोले मे इतने अलौकिक गुण छिपे हैं। उनकी सादगी सभा-सोसाइटियों में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार का कारण

बन जाती थी। इसकी बदौलत उन्हे कभी-कभी धक्के तक खाने पडते थे। प्लेटफार्म की सीढियों पर मुश्किल से बैठने पाते थे। उनकी जीवनी मे ऐसे कई प्रसङ्गों का उल्लेख है। इस प्रकार की यह एक घटना उन्होंने स्वय सुनाई थी :—

मथुरा मे स्वामी रामतीर्थजी महाराज आये हुए थे। खबर पाकर सत्यनारायणजी भी दर्शन करने पहुँचे। स्वामीजी का व्याख्यान होने को था, सभा मे श्रोताओ की भीड थी, व्याख्यान का नान्दीपाठ—मगलाचरण—हो रहा था, अर्थात् कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्य कवि लोग अपनी-अपनी ताजी तुकबन्दियाँ सुना रहे थे। सत्यनारायणजी के जी में भी उमङ्ग उठी, यह भी कुछ सुनाने को उठे। व्याख्यान-वेदि की ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबन्धकर्ताओ ने इन 'कोरे सत्य, ग्राम के वासी' को रास्ते में ही रोक दिया। दैवयोग से उपस्थित सज्जनो मे कोई इन्हे पहचानते थे। उन्होंने कह सुनकर किसी तरह ५ मिनट का समय दिला दिया। वेदि के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण-भक्ति के दो सवैये इन्होंने अपने खास ढग में इस प्रकार पढे कि सभा मे सन्नाटा छा गया, भावुक-शिरोमणि श्रीस्वामी रामतीर्थजी सुनकर मस्ती मे झूमने लगे। ५ मिनट का नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे, तब स्वामीजी ने आग्रह और प्रेम से कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गये और स्वामीजी अभी और, अभी और, कहते गये, व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुनने मे मग्न हो गये। ५ मिनट की जगह

पूरे पौन घटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुरा की भूमि, व्रज-भाषा में श्रीकृष्ण-चरित की कविता, भावुक भक्तशिरोमणि स्वामी रामतीर्थ का दरबार, इन्हे और क्या चाहिये था। 'भद्राग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणाना गण' का सुन्दर सुयोग पाकर रस-वृष्टि से सबको शराबोर कर दिया—यमुना-तट पर व्रज-भाषा-सुरसरी की हिलोर में सबको डुबो दिया। कहा करते थे, वैसा आनन्द कविता-पाठ में फिर कभी नहीं आया।

हिन्दी साहित्य की नि स्वार्थ सेवा और व्रजभाषा की कविता का प्रचार—लोकरुचि को उसकी ओर आकृष्ट करना—व्रज-कोकिल सत्यनारायण के जीवन का मुख्य उद्देश था। उन्होंने भिन्न भाषा भाषी अनेक प्रसिद्ध पुरुषों के अभिनन्दन में जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं, उनमें प्रशस्ति-पात्रों से यही अपील की है—

'जैसी करी कृतारथ तुम अँग्रेजी भाषा,
तिमि हिन्दी उपकार करहुगे ऐसी आशा।'
—(कवीन्द्र रवीन्द्र के अभिनन्दन में)

'नित ध्यान रहे तव हृदय मे ईश चरन अरविन्द को।
प्रिय सजन, ।मित्र निज छात्रजन हिन्दी हिन्दू हिन्द को।'
—(डॉसन साहब के अभिनन्दन में)

स्वामी रामतीर्थजी के वह इसलिये भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें 'व्रज व्रजभाषा-भक्त भक्ति-रस रुचिर रसावन' समझते थे। अपने समय के महापुरुषों में सबसे अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थजी ही में थी। स्वामीजी भी सत्यनारायणजी के

गुणों पर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जाने के लिये बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायणजी अपने गुरु की बीमारी के कारण न जा सके, और इसका सत्यनारायणजी को सदा पश्चात्ताप रहा। अस्तु। सत्यनारायण सभा-सोसाइटियों में भी इसी उद्देश से कष्ट उठाकर सम्मिलित होते थे, जैसा कि उन्होंने एक बार अपने एक मित्र से कहा था—'मैं तो व्रजभाषा की पुकार लैकें जरूर जाऊँगो, और कछू नायँ तो व्रज-भाषा-सुरसरी की हिलोर में सबको भिजायँ तो आऊँगो।'

सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा हिन्दी के सच्चे उपासक थे, और अपनी वेष-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषा से प्राचीन हिन्दुत्व और भारतीयता के पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अँगरेजी पढकर और अँगरेजी के विद्वानों की सगति में रात-दिन रहकर भी वह अँगरेजी से बचते थे। अनावश्यक अँगरेजी बोलने का हमारे नवशिक्षितो को कुछ दुर्व्यसन सा हो गया है। इनकी हिन्दी में भी तीन तिहाई अँगरेजी की पुट रहती है। सत्यनारायण इस व्यापक दुर्व्यसन का एक अपवाद थे।

एक बार जब वह ज्वालापुर में आये हुए थे, हिन्दी भाषा-भाषी एक नवयुवक साधु से मैंने उनका परिचय कराया। मैं भूल से यह कह गया कि सत्यनारायणजी अँगरेजी के भी विद्वान् हैं। फिर क्या था, यह सुनते ही साधु साहब प्लुत स्वर में हाँ ३ कहकर लगे अँगरेजी उगलने। यद्यपि वार्तालाप का विषय हिन्दी-भाषा का प्रचार था, 'साधु महात्मा' बराबर अँगरेजी बूँकते रहे

और सत्यनारायणजी अपनी सीधी-सादी हिन्दी में उत्तर देते रहे। कोई एक घंटे तक यह अँगरेजी हिन्दी संग्राम चलता रहा, पर सत्यनारायणजी ने एक वाक्य भी अँगरेजी का बोलकर न दिया, वह अपने व्रत से न डिगे। अन्त में हारकर साधु साहब ने पूछा—'क्या अँगरेजी बोलने की आपने कसम तो नहीं खा रक्खी ?' इन्होंने गम्भीरता से कहा—'मैं किसी भी ऐसे मनुष्य के साथ, जो टूटी-फूटी भी हिन्दी बोल-समझ सकता है, अँगरेजी नहीं बोलता। हिन्दी बोलने-समझने में सर्वथा ही असमर्थ किसी अँगरेजीदाँ से वास्ता पड़ जाय तो लाचारी है, तब अँगरेजी भी बोल लेता हूँ।' उक्त साधु अँगरेजी के कोई बड़े विद्वान् न थे, इंट्रेन्स तक पढ़े थे। कुछ दिनों मद्रास की हवा खा आये थे और उन्हें अँगरेजी बोलने का सक्रामक रोग लग गया था।

सत्यनारायणजी ने समय अनुकूल न पाया। कविता के लिए यह समय वैसे ही प्रतिकूल है, फिर व्रजभाषा की कविता से तो लोगों को कुछ राम-नाम का वैर हो गया है। व्रजभाषा की कविता का उत्कर्ष तो क्या, उसकी सत्ता भी आजकल के साहित्य धुरन्धरों को सह्य नहीं। सत्यनारायणजी के रोम रोम और श्वास श्वास में व्रजभाषा और व्रजभूमि का अनन्य प्रेम भरा था। यह पूर्व जन्म की प्रकृति थी, जन्मान्तरीण संस्कार थे। जो उन्हें बरबस इधर खींच रहे थे—'मोहूँ तो व्रज छोड़िकें अन्त कहूँ अच्छो नाय लगैगो। मैं तो व्रज में ही आऊँगो—मेरी व्रज की ही वासना है।'*

* (जीवनी, पृष्ठ २४८)

लिये वह अन्त समय तक तडपते रहे। फिर भी उनकी बची-खुची जो कविता इस समय उपलब्ध है, वह उन्हें कम-से कम 'कविरत्न' प्रमाणित करने के लिये, मैं समझता हूँ, पर्याप्त है। भले ही कुछ समालोचक उन्हें 'महाकवि' मानने को तैयार न हो, अपनी-अपनी समझ ही तो है। सत्यनारायण के सम्बन्ध में यह विवाद उठ चुका है। व्रजभाषा के प्रवीण पारखी श्रीवियोगी हरिजी ने 'व्रजमाधुरीसार' में लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि सत्यनारायणजी व्रजभाषा के एक महाकवि थे'। इसपर एक विद्वान् समालोचक ने यह कहकर आपत्ति की—" सत्य-नारायण को महाकवि कहना उनकी स्तुति भले ही हो, पर उसका औचित्य भी मानने के लिये कम-से-कम हम तो तैयार नहीं हैं।" इसपर वियोगी हरिजी ने 'नम्र निवेदन' किया—

"जो कवि एक आलोचक की दृष्टि मे महाकवि है, वही दूसरे की नजर मे साधारण कवि भी नही है। स्वर्गीय सत्यनारायण को अभी चाहे कोई महाकवि न माने, पर कुछ काल के बाद वे निःसन्देह महाकवियों की श्रेणी में स्थान पायँगे। यह अनुमान मुझे महाकवि भवभूति, वर्डसवर्थ और देव का स्मरण करके हुआ है।"*

भगवान् करे ऐसा ही हो। अब न सही, आगे चलकर ही सत्यनारायण को समझनेवाले पैदा हो और श्रीवियोगी हरिजी की इस सूक्ति का अनुमोदन करें—

---

* 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ११, अङ्क १०

'जग व्योहारन भोरौ कोरौ गाम-निवासी,
व्रज-साहित्य-प्रवीन काव्य-गुन सिन्धु विलासी ।
रचना रुचिर बनाय सहज ही चित आकरषै,
कृष्ण भक्ति अरु देश-भक्ति आनंद रस बरषै ।
पढि 'हृदय तरग' उमग उर प्रेमरग दिन दिन चढै,
सुचि सरल सनेही सुकवि श्रीसत्यनरायन जसु बढै ।।*

सत्यनारायण की जीवनी करुण रस का एक दु खान्त महा नाटक है । जिस प्रतिकूल परिस्थिति मे उन्हे जीवन बिताना पडा और फिर जिस प्रकार उन्हे 'अनचाहत को सग' के हाथों तग आकर समय से पहले ही ससार से कूच करने के लिए विवश होना पडा, उसका हाल पढ सुनकर किसी भी सहृदय को उनकी भाग्यहीनता पर दु ख और समवेदना हो सकती है । पर एक बात मे सैकडों से वह बडे ही सौभाग्यशाली सिद्ध हुए । गहन अन्धकार मे भटकते को दीपक दीख गया, अपार सागर मे थके हुए पछी को मस्तूल मिल गया, सत्यनारायण को मरने के बाद ही सही, 'चुप की दाद देनेवाला' एक 'भारतीय हृदय', मुर्दा हड्डियों में जान डालनेवाला—यश शरीर पर दया दिखानेवाला—एक 'मसीहा' मिल गया, जिसके कारण सत्यनारायण की स्वर्गीय सतप्त आत्मा अपने सासारिक जीवन की समस्त दु ख-दायी दुर्घटनाओ को भूलकर सन्तोष की साँस ले सकती है, और अन्यान्य परलोकवासी हिन्दी के वे अभागे कवि, लेखक, जिनका

*- कविकीर्तन

नाम भी यह कृतघ्न और स्वार्थी ससार भूल गया, सत्यनारायण की इस खुशनसीबी पर रश्क कर सकते हैं, उनकी इस सौभाग्य-शालिता को स्पृहा की दृष्टि से देख सकते हैं। यही नहीं, हिन्दी के अनेक जीवित लेखक और कवि भी, यदि उन्हे यह विश्वास हो जाय कि मुर्दों को जिन्दा करनेवाला कोई ऐसा 'मसीहा' हमें भी मिल जायगा तो, सुखपूर्वक इस ससार से सदा के लिए विदा होने को उस लेडी की तरह तैयार हो जायँ, जिसने आगरे के 'ताज' को देखकर अपने पति द्वारा यह पूछा जाने पर कि 'कहो इस अद्भुत इमारत के विषय में तुम्हारी क्या राय है ?' उत्तर दिया था कि 'मै इसके सिवा कुछ नही कह सकती कि यदि आप मेरी कब्र पर ऐसा स्मारक बनावें तो मैं आज ही मरने को तैयार हूँ।' मेरा मतलब सत्यनारायणजी की जीवनी के लेखक 'भारतीय हृदय' पडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी से है। चतुर्वेदीजी की पर-दु ख कातरता और दीनबन्धुता प्रसिद्ध है। प्रवासी भारतवासियों की राम-कहानी सुनाने में जो काम आपने किया है, वह बड़े-बड़े दिग्गज लीडरों से भी न बन पडा।

परमात्मा दया करके 'भारतीय हृदय' का सा विशाल, सहानुभूति-पूर्ण और प्रेमी हृदय हम सबको भी प्रदान करे, जिससे हम लोग अपने साहित्य-सेवियों का सम्मान करना सीखें और अपने सन्मित्रों की स्मृति और कीर्ति-रक्षा के लिये इनके समान प्रयत्नशील हो सकें।

चतुर्वेदीजी ने सत्यनारायण के अनेक मित्रों को कीर्तिशेष

यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो सम्भव है वे और अधिक उत्तम कार्य्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराए जाते हैं, वे ऐसे इक्के दुक्के लोगों के लिये नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभासपन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं, उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता, उसे भूत काल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो कुछ सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी-सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भांडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से सचित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझकर कागज़ पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया, तब उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था, वे साधारण छात्रों तक

अध्ययन

यदि हम चाहते हों कि हमें कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्ये
दशा में हमारा सहारा हो और जो जीवन में हमें आ
और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे—च
हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो-
तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन व
रुचि से जो लाभ हैं, वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साध
के लिये अध्ययन किया जाता है, वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधि
हैं और इनसे उच्च हैं। आत्म-संस्कार-सम्बन्धी पुस्तक* में अध्यय
को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे पर
कर्त्तव्य ठहराना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और धर्म
अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि
बहुतसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े-बड़े काम कर गए हैं, प
लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। बहुतसे लोग ऐसे हो गये हैं
जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी
प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के
अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि

---

* प० रामचन्द्र शुक्ल-प्रणीत 'आदर्श जीवन'।

यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो सभव है वे और अधिक उत्तम कार्य्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध मे जो नियम ठहराए जाते हैं, वे ऐसे इक्के-दुक्के लोगों के लिये नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-सस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में ससार के प्रतिभासपन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं, उन्हे जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढना नहीं जानता, उसे भूत काल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो कुछ सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी-सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भाडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढियों से सचित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लडका था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझकर कागज पर लिख लिया कि मैंने बडे भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बडे पुस्तकालय में गया, तब उसे यह जानकर बडा दु ख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था, वे साधारण छात्रों तक

को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उसकी होती है जो पढता नहीं। मनुष्य की अन्वेषण और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है, इसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिये उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या? वह जो सामने देखता है वही जानता है और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अधकार मे गिरता पडता है, टेढी-मेढी पगडडियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौडा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढने के दो-एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान देते है। यह विषय जैसा उपयुक्त है, वैसा ही मनोरजक भी है। पहली बात तो यह है कि पढने से इतिहास और काव्य मे हमारी गति होती है। और भूत काल की घटनाएँ हमारे अत करण में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इसके द्वारा हमें ससार के बडे-बडे राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनो के लिये रुकता और कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता और दूसरे स्थान मे इकट्ठा होता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिये उथला और छिछला पडकर फिर अनिवार्य्य वेग के साथ बहता और गभीर होता हुआ अतत आगे ही बढता आया और उसने अपनी सुख-समृद्धिपूर्ण विजय का प्रसार

किया। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्नबाधाओं को सहकर, कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेलकर, जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिसका फल यह हुआ है कि प्रत्येक सभ्य देश के गरीब आदमी भी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्मभावशून्य जातियाँ बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुई, किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों की रहन सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ। पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकलकर दूसरी जाति में जाती है। उनसे यह भी पता लगता है कि किन किन कारणों से और किन किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, फारस, काबुल, मिस्र, यूनान, रोम—जो अब नाम ही नाम को रह गए हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्त्व की धुँधली छाया मात्र शेष रह गई है—पुस्तकों के द्वारा हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं।

इतिहास की पुस्तकों से पाठकों को एक अत्यंत अनमोल शिक्षा मिलती है। मनुष्य जाति के मामलों में परमेश्वर किस प्रकार समय-समय पर हाथ डालता है, वे स्पष्ट देखते हैं। पर आधुनिक कोटि के इतिहासवेत्ता इस बात को देखकर भी इससे अनभिज्ञ बनते हैं। वे प्रत्येक कार्य वा घटना के कारण का पता विकास-सिद्धांत अथवा निज-कल्पित नियमों द्वारा लगाने का दम भरते हैं। पर यह बात

ऐसी प्रत्यक्ष है कि इसपर धूल नहीं डाली जा सकती। यह संसार के इतिहास में अमिट अक्षरों में अंकित है। भारतवासियों की धर्म प्रवृत्ति का बौद्ध धर्म द्वारा जो संस्कार हुआ, उसे देखने से स्पष्ट झलकता है कि किस प्रकार मनुष्यों के आचार-व्यवहार और रीति-नीति में अनुकूल परिवर्त्तनउ पस्थित करने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से एक-न-एक नई शक्ति खड़ी हो जाती है। जिस समय भारतवासी अपना सारा धर्म-पुरुषार्थ वैदिक कर्मकांड की जटिल क्रियाओं में समझने लगे थे, उस समय उन्हें परोपकार और दया-धर्म की ओर फिर से प्रवृत्त करने के लिये भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। अग्निष्टोम, वाजपेय, दर्शपौर्णमास आदि का जितना फल समझा जाता था, उतना ही फल कूआँ, तालाब खुदवाने, बाग लगाने आदि का समझा जाने लगा। यह ठीक है कि परमात्मा का व्यापक उद्देश्य कभी-कभी हमारे संकुचित उद्देश्य से भिन्न होता है, जिससे हमारे मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उठती हैं। हम जैसा होना न्याय्य समझते हैं, वैसा होते न देख ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार के संदेह करने लग जाते हैं। पर यदि विचारकर देखिए तो इतिहास में चारों ओर परमेश्वर की प्रेरणा का आभास मिलता है। कितनी छोटी छोटी बातों से संसार में कितने बड़े बड़े उलट-फेर हुए हैं, यह प्रत्येक इतिहासविज्ञ मनुष्य को विदित है। जहाँ एक शक्ति का पतन और नाश होता है, वहाँ दूसरी शक्ति का उदय और उत्थान होता है। अव्यवस्था के उपरांत व्यवस्था स्थापित होती है, अंधेर के पीछे सुनीति का संचार होता है, दुर्बलता के पीछे बल आता है,

बडे बडे प्राचीन राज्यों के खँडहरों की ईंटों को जोड-बटोरकर नए नए अधिक बल वैभव-सम्पन्न साम्राज्य खडे होते हैं। मिस्र, बाबुल, फारस आदि के अवशिष्टांश से यूनान की सभ्यता का विकास हुआ, यूनान की खंडित शक्ति से रोम राज्य की और रोम राज्य के छितराए खंडों से यूरोप की आधुनिक राजनैतिक शक्तियों की सृष्टि हुई।

अध्ययन के द्वारा हम घर बैठे बडे-बडे धुरन्धर विद्वानों के गम्भीर विचारों को जान सकते हैं, ससार के प्राचीन महापुरुषों के सत्सग का लाभ उठा सकते हैं। अध्ययन के द्वारा हम ज्ञान के स्रोत तक बराबर पहुँच सकते हैं, चाहे ज्ञानदाता जिस स्थान पर हो और जिस काल में हुआ हो। इस विषय में दिक् या काल कोई बाधा नहीं डाल सकता। अध्ययन के द्वारा हम वाल्मीकि, व्यास और गौतम से उतने ही परिचित हो सकते हैं जितने उनके समकालीन थे। अध्ययन हमें भारतवर्ष के अतुल ज्ञान भाडार से सन्तुष्ट कर सकता है, यूनान, रोम आदि की व्यवस्थित विचार परम्परा से परिचित कर सकता है, अरब, फारस आदि की भावुकता का अनुभव करा सकता है। भवभूति को हम मृत कैसे समझें जब कि वह 'उत्तररामचरित' द्वारा हमें अपनी मधुर वाणी सुना रहे हैं। क्या कालिदास की उज्जयिनी में शिप्रा के किनारे जाकर हमारा आँसू बहाना ठीक है जब कि अपने अलौकिक काव्य द्वारा वे हमारे सामने उपस्थित हैं। थोडा सोचिए तो कि इससे बढकर आनद और क्या हो सकता है कि हम अपनी

सम्मुख करेगा। चद बरदाई उसे प्राचीन काल के सूर सामतों की आन और नोंक-झोंक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुष बडे-बडे लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुष उसके सामने हाथ बाँध इस प्रकार खडे रहेंगे जिस प्रकार मन्त्रवेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भाडार हो जाय कि उसमें से समय-समय पर, जब जैसा अवसर पडे, हम शाति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भाडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनदप्रद दोनों है। बहुतसे ऐसे अवसर आ पडते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शक्ति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा जिन्होंने कठिन संकट और विघ्न सहे, पर अत में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है—

छाँडिए न हिम्मत, बिसारिए न हरिनाम,
जाही विधि राखैं राम, वाही विधि रहिए।

प्रयत्न में हताश वा दुःखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँध सकता है, यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख

पडने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा मे रहे, हम इस कर्त्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पडें, हम यह अपमान और ताप सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा। ईश्वर की यही इच्छा है, हम या ससार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म है।"

पढने का एक लाभ तो हुआ कि उससे हम समय पडने पर शिक्षा, उत्साह और शाति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे-ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण सग्राम में हम अपनी थाप रख सकते है। उससे हमे उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्य्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्याय-सगत कार्य्य करने पर उद्यत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओ का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रखी है।" दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया—"तब तो मुझमे और आपमे केवल इतना ही अन्तर है कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इस अभिप्राय-गर्भित वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढेगा, किस का चित्त दृढ नहीं होगा? कोई छोटा है या बडा, यह कोई बात नहीं। मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी मे है, वह उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों तथा वा
लेखक दीनबन्धु मित्र के उपन्यासों से हो सकती है। मानी
विकारों के लिए पुस्तकें बहुत ही उपयुक्त औषध हैं। जिनका
अपने आस-पास के व्यापारों को दिन-रात देखते देखते ऊन
हो, उन्हें चाहिए कि वे अद्भुत घटनाओं और वृत्तान्तों से पूर्ण य
की पुस्तकें पढ़ें। इससे उनका चित्त बहल जायगा और उ
फुरती आ जायगी। 'चीन में तेरह मास', 'भारत भ्रमण', क
बस की यात्रा, इत्यादि को हाथ में लेकर जब वे चीन, लं
अमेरिका की बैठे बैठे सैर करेंगे, तब वे अपने को कारागार
मुक्त हुआ समझेंगे और सृष्टि के विस्तार को देख प्रसन्न हों
संकीर्ण भाव के लोगों के आगे इतिहास की पोथियाँ खोल
रखनी चाहिएँ। एक ग्रंथकार कहता है—"मुझे स्मरण आता
कि मैंने एक बार एक ऐसे पुरुष को, जो पत्नी के मरने
उसके वियोग में दिन-दिन घुलता जाता था, भूगर्भ शास्त्र की द
पाँच बातें सुनाकर चंगा कर दिया। मैंने तो यह सोचा है
जिस प्रकार पुस्तकालयों में लोग विषय के अनुसार दर्शन, गणि
इतिहास, काव्य, विज्ञान आदि लिखकर अलमारियों पर चिपका
हैं, उसी प्रकार जिन-जिन रोगों के लिये जो जो पुस्तकें उपका
हों, उनकी अलमारियों पर उन्हीं रोगों के नाम—काश, ज्व
शोकोन्माद आदि—लिखकर लगा दूँ।" आगे चलकर वही ग्रंथ
कार थोड़ा गम्भीर होकर फिर कहता है—"जब कोई ऐसा दु:
तुम्हारे चित्त में समा जाता है जो हटाए नहीं हटता, और तु

यह समझने लगते हो कि जब ईश्वर ने इस एक सुख से तुम्हें वंचित कर दिया तब फिर जीवन व्यर्थ है, तब तुम्हारे लिये अच्छा यह होगा कि बडे बडे पुरुषों के जीवनचरित हाथ मे लो। फिर देखो कि उनमे एक पृष्ठ भी ऐसा न मिलेगा जिसमें किसी तुम्हारे ऐसे दु ख का पचडा गाया गया हो। प्रत्येक पृष्ठ में बराबर जीवन मे अग्रसर होते जाने की बात मिलेगी। तुमपर जहाँ कोई दु ख पडा, तुम समझते हो कि बस तुम बिना हाथ पैर के हो गए, तुम्हारी कमर टूट गई। नहीं, कभी नहीं ! तुम्हारे हाथ पैर टूटे नहीं, उनमे झुनझुनी चढ गई है। जीवनचरित मे तुम देखोगे कि किस प्रकार दु खो को लाँघता फाँदता महान् पुरुष का जीवन आगे बढता गया है।"

मनुष्य को किन किन विषयो के पठन का क्रम रखना ठीक होगा, इसका विचार बहुत कुछ उसके व्यवसाय के अनुसार होना चाहिए। जो दिन-रात किस्से-कहानियाँ ही पढा करता है, वह अच्छा गणितज्ञ कभी नहीं हो सकता। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पढने का मुख्य उद्देश्य अन्त करण का अर्थात् उसकी सब शक्तियों का समान संस्कार है जिसमे जब जिस शक्ति का प्रयोजन पडे, उससे काम लिया जा सके। इससे हमे आँख मूँदकर विद्या के किसी एक ही विभाग की ओर सलग्न न हो जाना चाहिए। विवेचन शक्ति का ऐसा अनन्य अभ्यास न करना चाहिए जिससे कल्पना की शक्ति मारी जाय, और कल्पना के व्यवहार की भी इतनी अधिकता न हो कि विवेचन की शक्ति मंद पड जाय।

जो मनुष्य विद्या के एक ही अंग मे लिप्त रह जाता है, वह उस अग का भी पूर्ण अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि विद्या के भिन्न भिन्न अगो का सबध एक-दूसरे से लगा हुआ है, वे एक-दूसरे के आश्रित हैं। जो अपना सारा जीवन केवल व्याकरण ही में बिता देते हैं उनकी विद्या बुद्धि कैसी होती है, यह प्रकट ही है। इसी से मेरा प्रत्येक मनुष्य से यह कहना है कि जहाँ तक हो सके, किसी एक विषय मे प्रवीणता प्राप्त करते हुए सब बातों की आवश्यक जानकारी प्राप्त करो और पूरे मनुष्य बनो। इससे उस विषय में भी उत्कृष्टता आवेगी और मानव जीवन भी सफल होगा। इसी ढग से तुम उस विचार-सकीर्णता से बच सकते हो जो किसी एक ही विषय मे मग्न रहनेवालो में पाई जाती है। साराश यह कि पेशा वा व्यवसाय चाहे जो हो, जो लोग उस पेशे ही भर मे रह जायँगे, वे उन चीनियों के समान एकागदर्शी और सकीर्ण ज्ञान के हो जायँगे, जो अपने बनाए हुए भूगोल के नक़शे मे चीन साम्राज्य के तो छोटे-छोटे गाँवों तक को लिखते हैं, पर उसके आगे लिख देते हैं "अज्ञात मरुभूमि" वा "बर्बरो का देश"।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह आवश्यक है कि आहार के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के और भिन्न भिन्न गुण रखनेवाले पदार्थ हो। हमें ऐसी वस्तुओ का भोजन करना चाहिए जिनसे रुधिर भी बने, मास भी बने, मेद भी बने, अस्थि भी बने। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकते। यदि वे केवल रोटी ही खायँ तो उनके जोड़ों और पेशियो में फुरती न रहेगी, स्नायुओ

की शक्ति क्षीण हो जायगी, हाथ पैर न उठेंगे और रक्त दूषित हो जायगा। जो दशा शरीर की है, वही आत्मा की भी है। अतःकरण तभी सशक्त और फुर्तीला रह सकता है जब उसके पोषणके लिये भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ पहुँचाई जायँ। उसकी कल्पना की शक्ति को भी पोषण-सामग्री पहुँचानी होगी और विवेचना की शक्ति को भी--विवेक को भी--पुष्ट रखना होगा और भावना को भी तीव्र रखना होगा। इस प्रकार अतःकरण को स्वस्थ और बलिष्ठ रखना ही पढने का उद्देश्य है। अध्ययन से अतःकरण की सारी वृत्तियो का अभ्यास बढता है, इससे बल और उत्साह भी प्राप्त होता है और आवश्यकतानुसार शान्ति भी आती है।

पढने का एक प्रयोजन यह भी है कि इतिहास, काव्य आदि से उत्कृष्ट कर्म्मों के दृष्टान्तों को चुनकर उन्हें हृदय में अकित करके सजावे—ठीक उसी भाँति जैसे गुणी चित्रकार अपनी चित्रशाला सजाता है। इन दृष्टान्तों और घटनाओं को एक एक करके स्मृति के सम्मुख लाना, उनके ब्योरों पर ध्यान देना, उनके महत्त्व का चिन्तन करना और उनसे उपदेश ग्रहण करना कितना आनद-दायक होता है। वे चित्र, जिन्हें पाठक अपनी स्मृति में उपस्थित करेंगे, उतने ही रग बिरग के होंगे जितने प्रकार के ग्रन्थ वे देखेंगे उन्हें भिन्न भिन्न जातियों के इतिहास से, श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-वृत्तान्तों से, कवियों की अलौकिक सृष्टि से, यात्रियों और अन्वेषकों की छानबीन से, वैज्ञानिकों के अनुसधान से अनेक प्रकार के रुचिर और मनोरम दृश्य प्राप्त होंगे। वे वे...

महात्मा भीष्म के उस समय के पराक्रम को देखेंगे जब वे रथ पर चढ़े पाडव-सेना पर अनिवार्य्य अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे, अपने बाणों के अखंड प्रवाह से पाडवों को विकल कर रहे थे, और अर्जुन ऐसे धीर और पराक्रमी पुरुष के छक्के छुडा रहे थे। उसके उपरान्त फिर उन्हीं वृद्ध भीष्म पितामह को पाठक शरशय्या पर लेटे-लेटे राजनीति और धर्म्म के गूढ तत्त्वों का उपदेश करते देखेंगे।

सच्चा विद्यानुरागी ज्ञान-प्राप्ति का साधन इसलिये करेगा जिसमें वह अपना तथा दूसरों का हित साधन कर सके। उसका मुख्य उद्देश्य उन शक्तियों की वृद्धि और परिष्कृति का साधन होना चाहिए जो उसे प्राप्त हैं। और उस साधन का मुख्य फल वह आनन्द होना चाहिए जो ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति को पढने का लाभ मैं और क्या बतलाऊँ? प्रसिद्ध अँगरेज विद्वान् बेकन का उपदेश है—"हमे खडन-मडन करने के लिये, विश्वास और स्वीकार करने के लिये, तरह-तरह की बात करने के लिये नहीं पढना चाहिए, बल्कि विवेक और विचार के लिये पढना चाहिए।" आगे चलकर उसने पठन, वार्तालाप और लेखन का भेद समझाया है कि पठन से पूर्णता, वार्तालाप से तत्परता और लेखन से यथार्थता आती है। इसी से वह कहता है—"यदि कोई मनुष्य थोडा लिखे तो समझना चाहिए कि उसे धारणा की आवश्यकता है, यदि थोडा वार्तालाप करे तो समझना चाहिए कि उसमें उपस्थित बुद्धि का अभाव है, और यदि थोडा पढे तो

समझना चाहिए कि उसे चतुराई और समझ की आवश्यकता है।" बातचीत और लिखना दोनों बहुत प्रयोजनीय हैं। बातचीत व्यवहार कुशल पुरुषों के लिये प्राय पुस्तक का काम देती है। पर विद्यानुरागी के लिये पढना एक बडा भारी मन्त्र है जिसके प्रभाव से चिर-काल का सचित ज्ञान भाडार उसके सामने खुल पड़ता है, वह सब काल के पुरुषों का समकालीन हो जाता है, और सब जातियों के विचारों का आगार बन जाता है, सैकड़ों पीढियों के प्रयत्न का फल उसके हाथ में आ जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यों के कर्मों की व्यवस्था ज्ञान से प्राप्त होती है, और ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो अनेक विषयों से सम्बन्ध रखता है। ऐसे ज्ञान का द्वार अध्ययन है।

पर अध्ययन वा पढना है क्या वस्तु ? बिना किसी उद्देश्य के यो ही सरसरी तौर पर पुस्तकों के पन्ने उलटते जाना, जैसा कि प्राय लोग मन-बहलाव के लिये अवकाश के समय किया करते हैं, पढना नहीं है, बल्कि उनमें लिखी बातों को विचारपूर्वक स्थिर किए हुए नियमों और व्यवस्थाओं के अनुसार पूर्ण रूप से हृदय मे ग्रहण और धारण करने का नाम पढना है। आर्थर हेल्प्स कहते हैं—"प्रत्येक स्त्री पुरुष को, जो थोडा बहुत पढ सकता है, अपने पढने का कोई उद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए। वह अपनी शिक्षा का कोई एक मूल काड मान ले जिससे चारो ओर शाखाएँ निकलकर उस मूल वृक्ष के लिये प्रकाश और वायु सचित करें जो आगे चलकर शोभायमान और उपयोगी निकले तथा बराबर

फूलता-फलता रहे। विद्यार्थी को इसका ध्यान सबसे पहले रखना चाहिए। यदि वह बिना नकशे वा ध्रुवयंत्र के यों ही विद्या के अपार समुद्र में चल पड़ेगा और यह स्थिर न कर लेगा कि उसे किस बंदर की ओर चलना है, तो या तो उसकी नाव डूब जायगी या हवा और लहरों के झोंके खाती इधर-उधर टकराती फिरेगी।"

सबसे पहली बात तो यह है कि पढना नियमपूर्वक होना चाहिए, अर्थात् उसके लिये नित्य कुछ समय रख लेना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत ही आवश्यक बातों को छोड और दूसरी बातें उस समय के बीच बाधक न होने पावें। यदि विद्यार्थी को जीविका के लिये कोई काम करना पडता हो, तो यह समय सुबीते के अनुसार ही रखा जा सकता है। बहुत करके ऐसे व्यक्ति को रात ही को ऐसा समय मिल सकता है जिसमें वह अपनी प्रिय पुस्तकों को हाथ में ले। अन्यथा सवेरे का समय ही एकाग्र चित्त से अध्ययन करने के लिये उपयुक्त होता है। उस समय चित्त बहुत तत्पर रहता है। रात भर के विश्राम से उसकी सारी शक्तियाँ काम करने के लिये तैयार रहती हैं। सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे नित्य सवेरे स्नानादि के उपरात कुछ पद बनाकर तब जलपान आदि करते थे। यही बात कई भक्त कवियो के विषय मे कही जाती है। टेव ही सब कुछ है। प्राय ऐसा होता है कि हमारा पढने-लिखने को जी नहीं चाहता, आलस्य मालूम होता है। इसे दृढतापूर्वक रोकना चाहिए, नहीं तो आत्म सस्कार की सारी आशा धूल में मिल जायगी। इस बुरे

प्रभाव से बचने की सबसे अच्छी युक्ति यह है कि बाँधे हुए नियम का दृढतापूर्वक पालन करे, उसे टूटने न दें। हमारा चित्त सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें सदा एक-सी तत्परता नहीं रहती। आज हम जिस बात को लेकर आशा और उत्साह से भरे हैं, उसी बात से कल कोई आशा नही बधती। प्रत्येक मनुष्य चित्त की इस चचलता के वशीभूत है। पर यदि बुद्धि उदय होकर तुम्हे आलस्य छोडने और उत्साह के अभाव में भी कठपुतली की तरह चटपट काम कर चलने का आदेश करे और तुम उस काम को कर चलो, तो थोड़ी ही देर मे देखोगे कि तुममें ज्यो का त्यो उत्साह आ गया है। फिर तुम सोचोगे कि हमने वहुत अच्छा किया जो आलस्य के फेर में पडकर अपने नियमित विधान नहीं छोडे। बुद्धि को साधना का सहारा दो, आलस्य और खिन्नता को अपने दृढ सकल्प द्वारा हटाओ, फिर देखोगे कि आलस्य तुम्हें आता ही नहीं और तुम्हारे चित्त में सयम और अध्यवसाय का सस्कार दृढ हो गया है।

दूसरी बात यह है कि पढना समझ-बूझकर हो, अर्थात् हम ग्रथकार के भाव को ठीक-ठीक समझने का उद्देश्य रखें, उसकी वाक्य रचना पर ध्यान दें, उसके पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष को समझें, उसकी त्रुटियों का पता लगावें तथा उसके सिद्धान्तों की परीक्षा करें। हम जो पुस्तक पढें, उसका मत भी देखें और अपना मत भी देखें। इस रीति से अध्ययन करने का कष्ट प्राय नवयुवक नहीं उठाते, पर उन्हें समझ रखना चाहिए कि बिना इस

ढग से अध्ययन किए किसी अच्छे ग्रथ वा बडे ग्रथकार का अभिप्राय पूर्ण रूप से समझ मे नहीं आ सकता। यह प्रणाली पहले बहुत लबी-चौडी और कष्टसाध्य प्रतीत होगी, पर थोडे दिनों के अभ्यास से हम इसका अनुसरण सहज में और जल्दी-जल्दी करने लगेंगे। काल पाकर हमे इसकी टेव-सी पड जायगी और हम झट-झट पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते जायेंगे और हमारा पढना इसी प्रणाली के अनुसार आप-से आप होगा। पर यदि ऐसा भी न हो, तो भी इस प्रणाली से अध्ययन करने में जो अधिक समय और परिश्रम लगेगा, उससे भरपूर लाभ होगा। जो पुस्तक इस प्रकार समझ-बूझकर पूर्ण रूप से पढी जायगी, वह सब दिन के लिये हमारी हो जायगी, उसके भाव हमारी नस नस में घुस जायँगे और उसका विषय हमारे ज्ञान का एक अग हो जायगा। इस प्रकार पूर्ण रूप से दस पुस्तकों का पढना साधारण रीति से सौ पुस्तकों के पढने से अच्छा है। जो मुसाफिर डाकगाडी मे बैठा रम्य से-रम्य प्राकृतिक दृश्यो के बीच से होकर ३५ मील प्रति घटे के हिसाब से भागा जाता है, वह भला क्या देख सुन सकता है? वह एक बडे देश से होकर निकल जायगा, पर उसकी विशेषताओं को न जान सकेगा। एक बात और भी है। यदि इस प्रणाली का पूर्णतया अनुसरण किया जायगा तो पढने मे बडी सुगमता होगी, क्योंकि इसके द्वारा हम प्रस्तुत पुस्तकों की अच्छी बातों का पूरा आनद लेते जायँगे। बहुतसे नवयुवक यह कहते सुने जाते हैं कि मैंने यह पढा है, वह पढा है, पर यदि उनसे पूछिए

तो पुस्तक के नाम के सिवा वे और कोई बात नहीं बतला सकते। यह कोई पढना नहीं है, इसे समझ-बूझकर पढना नहीं कह सकते। तुम किसी पुस्तक को तब तक पढी हुई नहीं कह सकते जब तक कि उसका सार तत्त्व, उसके निरूपण की शैली, ग्रथकार की तर्कना प्रणाली तथा उसके सिद्धान्तो को पुष्ट करनेवाले दृष्टान्त तुम्हारे मन मे बैठ न जायँ।

मैंने अध्ययन की उस प्रणाली से बहुत ही लाभ उठाया है जिसे उद्धरणी कहते हैं। इस प्रणाली में बार-बार दोहराने की क्रिया करनी पडती है, जिससे पढी हुई बात मन मे बैठ जाती है। मैं पढने मे इसी प्रणाली का अनुसरण करता हूँ। जब मैं किसी पुस्तक का एक प्रकरण पढ चुकता हूँ, तब मैं पुस्तक को बद कर देता हूँ और उसमे आई हुई मुख्य-मुख्य बातों को फिर ध्यान पर चढाता हूँ। इसी क्रम से मैं एक-एक प्रकरण पढता जाता हूँ। जब पुस्तक समाप्त हो जाती है, तब मैं सारी पुस्तक के विषय का अनुक्रम, एक एक प्रकरण करके, मन मे धारण करता हूँ और इस प्रकार पुस्तक की सारी बातो को मन में दोहरा जाता हूँ। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य बहुतसी पुस्तकें पढे और कुछ भी न जाने। पढने का जो ढग ऊपर बतलाया गया है, उसके अनुसार यदि कोई पढे तो उसे पुस्तकों के विषय पर पूरा पूरा अधिकार हो जायगा। यह ढग जल्दी जल्दी पढने के लिये तो उपयुक्त नहीं है पर सम्यक रूप से पढने के लिये उपयुक्त है। जब कोई युवा पुरुष पढना आरभ करे, तब उसे चाहिए कि वह धीरे धीरे समझ बूझकर

पढे। दूर जानेवाला कोई हरकारा जब अपनी यात्रा आरंभ करता है, तब धीरे-धीरे चलता है, फिर ज्यों-ज्यों पैर गरमाता जाता है, वह अपनी चाल बढाता जाता है। यदि कोई पाठक पहले ही बहुत अधिक आगे बढना चाहेगा तो उसका चित्त बहुतसी बातों के बोझ से घबरा जायगा और वह विषय को ग्रहण और धारण न कर सकेगा। प्राचीन काल के पंडित और विद्वान् आजकल के पंडितों और विद्वानों मे एक बात में अच्छे थे। उनके पास पुस्तकें तो थोडी ही सी रहती थीं, पर वे उन्हें अच्छी तरह पढते थे। बहुतसी पुस्तकों ही से बोध नहीं हो जाता। बोध के लिये यह देखना आवश्यक नहीं है कि 'हमने कितना पढा है' बल्कि यह देखना आवश्यक है कि 'हमे कितना उपस्थित है'। एक अनाडी किसान सौ बीघे में भी उतनी फसल नहीं पैदा कर सकता, जितनी एक चतुर किसान पचास बीघे मे कर सकता है।

पढने के समय एक नोट-बुक रख लेने से बडी सहायता मिल सकती है। जो पुस्तक तुम पढो, उसके उत्तम और चमत्कारपूर्ण अंशों को उसमे अक्षर-क्रम से या और किसी क्रम से टाँकते जाओ। पढते समय हाथ में एक पेंसिल भी रखो और (यदि पुस्तक तुम्हारी हो तो) पृष्ठ के किनारे ऐसे स्थलों पर निशान करते जाओ, जो बार-बार पढने योग्य हों, जिनमें कोई सुन्दर उक्ति हो, जो संदिग्ध हों, अथवा जिनके विषय में छानबीन आवश्यक हो। पठन प्रणाली के कई एक लेखकों ने पुस्तक पर निशान के लिये इतने प्रकार के चिह्न बनाए है कि यदि कोई पाठक उनका व्यवहार

करे तो सारी पुस्तक ही रँग जाय। पर मैंने जहाँ तक अनुभव किया है, केवल चार चिह्नों ही से काम चल जाता है। वे चार चिह्न ये हैं—

। इस चिह्न से यह सूचित होता है कि जहाँ यह लगा है, उस स्थल का भाव या उक्ति सुन्दर है।

× इससे ऊपरवाले चिह्न का उलटा अभिप्राय समझना चाहिए।

? इस चिह्न से यह अभिप्राय है कि बात सदिग्ध वा अयथार्थ है।

० यह सूचित करता है कि कथन कहीं से उद्धृत है, वा विचार कहीं से लिए गए हैं।

बहुतसे चिह्नों का आडबर रखने से पढने में सुविधा न होगी, रुकावट ही होगी, क्योंकि पढनेवालों का ध्यान इन्हीं चिह्नों की ओर रहेगा, इस विषय की ओर न रहेगा। उसका पढना इसी प्रकार होगा जैसे कोई रास्ते मे मील और फरलाँग के पत्थर गिनता चले और चारो ओर के रमणीय दृश्यों और विशेषताओं की ओर ध्यान न दें।

पढने मे विषयों का विभाग भी अत्यन्त प्रयोजनीय है। हमें ऐसी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए कि जिसे धारण करने योग्य विचार का एक बार हमारे चित्त में सचार हो, उसे हम धारण कर ले, 'नोट बुक' और चिह्नों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, विषय-विभाग मे बड़ी सहायता मिलेगी, पर सबसे अधिक सिद्धि अत करण में स्थिति, अन्वय और व्यतिरेक की शक्ति की साधना

से होगी। पाठक को अपने विचारो को सुव्यवस्थित करने का अभ्यास करना चाहिए। ज्यों-ज्यों वह पढता जाय, त्यों-त्यों उन भावो और विषयो को क्रमबद्ध करता जाय जो उसके सामने आवें।

विषयों के अध्ययन का कोई क्रम होना चाहिए। इस क्रम का अभाव बडी भारी भूल है जो प्राय नवयुवको से हुआ करती है। वे काव्य पढते-पढते इतिहास पढने लगते हैं, इतिहास छोडकर तर्क विद्या की ओर झुकते हैं, फिर उपन्यास हाथ में लेकर बैठते हैं, साराश यह कि जैसे भिखमगे एक द्वार से दूसरा द्वार देखा करते हैं। वैसे ही वे एक विषय मे दूसरे विषय की ओर जाया करते हैं। वे लोहे की खान खोदते-खोदते ताँबे की खान खोदने लगते हैं, फिर सीसे की खान की ओर लपकते हैं। तात्पर्य्य यह कि एक एक करके वे प्रत्येक विषय का पल्ला चूमते हैं, पर किसी मे भी कुछ काल तक नहीं लगे रहते। इस प्रकार का पढना अध्ययन के उद्देश्य और अभिप्राय का साधक नहीं बाधक होता है। इससे चित्त सदा चचल और अस्थिर रहता है, और बहुतसे विषयों का बोझ लाद देने से बुद्धि स्तब्ध और शिथिल हो जाती है। सोचना चाहिए कि पढने का उद्देश्य क्या है। जैसा कि बेकन ने कहा है—"पढना खडन-मडन करने, वा मानने-मनाने के लिये नहीं होता, बल्कि विचार और विवेक के लिये होता है।" अस्तु, हम लोग जो कुछ पढें, उसे अच्छी तरह समझें-बूझें। पढना हमें केवल ज्ञान की सामग्री प्रदान करता है, विषय मे पूर्ण प्रवेश चिन्तन मे होता है।

विना किसी क्रम और व्यवस्था के धारणा मे बहुत सी ऊटपटॉग और बेमेल बातों को स्थान देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जैसे और सब बातों मे वैसे ही पढन के विषय में भी पक्का सिद्धान्त यही है कि एक समय मे एक ही चीज पढी जाय, और अच्छी तरह पढी जाय। तीन घोडों पर चढकर केवल सर-कसवाले निकलते हैं। पर सवार, जिसे किसी दूसरे प्रदेश में जाना रहता है, एक ही जॅचे हुए घोडे पर चढकर निकलता है। वह अस्थिर चित्त का मनुष्य, जो कभी कविताएँ लिखता है, कभी पुरातत्त्व में टाँग अडाता है, कभी राजनैतिक विषयो पर व्याख्यान देता है, किसी एक में भी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। सच्चे विद्यार्थी को इस प्रकार की कुदान और सरसरी पढाई से दूर रहना चाहिए, यह न समझना चाहिए कि बहुतसे विषयों का पल्ला चूमने से ही आदमी कुछ सीख सकता है या बहुतसी पुस्तकें उलटन ही का नाम खूब पढना है। एक अनुभवी ग्रंथकार का उपदेश ध्यान देने योग्य है जो कहता है—"साधारणत पढने की ओर प्रवृत्ति आनद और शिक्षा के लिये होती है। इससे युवा पुरुष का पढना ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ श्रम मालूम हो और जिसका कुछ विशिष्ट उद्देश्य हो। जिसमें कुछ श्रम पडता है, उससे अत करण की सब शक्तियो पर जोर पड़ता है, और कोई विशेष उद्देश्य रखकर हम जो कुछ पढते हैं, उसको धारणा जितनी दृढता के साथ ग्रहण करती है, उतनी दृढता के साथ यों ही सरसरी तौर पर पढी हुई बातो को नहीं।"



एक बात और है। विद्याभिलाषी जो कुछ पढे, उसे आलोचनापूर्वक पढे। इसी सिद्वान्त की ओर लक्ष्य करके एक विद्वान् कहता है—"कुछ पुस्तके ऐसी होती हैं जिन्हे सरसरी तौर पर ही पढने के लिये एक आदमी की पूरी उमर चाहिए, कुछ ऐसी होती हैं जो पढने में सहायक मात्र होती है और जिनका काम समय-समय पर पडता है, कुछ ऐसी होती हैं जो केवल खुशामद वा शिष्टाचार के निमित्त लिखी जाती हैं और जिनका केवल देख लेना ही पढ जाना है।" इन भारी-भारी पुस्तकों, सहायक पुस्तकों और शिष्टाचार की पुस्तकों को अलग रखकर विद्यार्थी को ऐसी-ऐसी पुस्तकें पढनी चाहिएँ जो उसे कुछ सिखावें, जो यह बतलावें कि कैसे जीना और कैसे मरना होता है, जो उसकी धारणा में उत्तम ज्ञान का भाडार भर दें और कल्पना में उत्तम उत्तम चित्र अकित कर दें, उसके श्रेष्ठ मनोवेगों को उभाडें तथा हृदय की पवित्र और मृदुल भावनाओं को प्रेरित करें। उसे अपने पढने के लिये पुस्तकें बहुत सोच-विचारकर चुननी चाहिएँ, क्योकि जो समय बुरी पुस्तक देखने मे जाता है, वह नष्ट हो जाता है, और नष्ट करने के लिये विद्यार्थी को समय नहीं मिल सकता। अच्छी पुस्तको की भी तीन श्रेणियाँ हैं—एक तो वे पुस्तकें जिनका ऊपर बताए हुए ढग से पूर्ण अनुशीलन करना चाहिए, दूसरी वे पुस्तकें जिनका दो-तीन बार पढ जाना ही काफी है, तीसरी वे जिन्हे एक बार से अधिक पढने की आवश्यकता नहीं। जैसे और सब काम करने के वैसे ही पढने के भी तीन ढग हैं—साधारण पढना, अच्छी तरह पढना,

खूब अच्छी तरह पढना। पर इस अतिम ढग से पढने के योग्य पुस्तकें कितनी थोडी है! ऐसी पुस्तकें कितनी थोडी हैं जिनके विषय में मिल्टन की यह उक्ति चरितार्थ होती हो कि "पुस्तकों मे वैसी ही क्रियमाण जीवन शक्ति उत्पन्न करन का गुण होता है जैसी उनके लिखनेवालो की आत्मा में थी।" पुस्तकों में उनके कर्त्ताओं की पवित्र बुद्धि का सार खींचकर रखा रहता है, जिनके सेवन से मननशील पुरुषों मे ज्ञान-शक्ति का सचार होता है।

मिल्टन ने आगे चलकर कहा है—"पवित्र मनुष्य के निकट सब वस्तुएँ पवित्र हैं, खान-पान ही नहीं, सब प्रकार का पढना भी, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अत करण शुद्ध है, तो किसी प्रकार का पढना वा किसी प्रकार की पुस्तकें उसे कलुषित नहीं कर सकतीं। पुस्तकें भोजन की सामग्री के समान है, जिनमें कुछ अच्छी होती हैं, कुछ बुरी। लोग अपनी रुचि के अनुसार उनको चुन सकते हैं। विद्यार्थी को इस बात के ऊपर कभी न जाना चाहिए कि शुद्ध अत करणवाले के लिये सब कुछ पवित्र है, क्योंकि बडी कठिनाई तो यह है कि हम निर्णय नहीं कर सकते कि कौनसी वस्तुएँ पवित्र हैं। बचपन से लेकर बराबर हम बुराई की ओर ले जानेवाली बातों से घिरे रहते हैं। ऐसी अखड पवित्रता कितनों मे पाई जाती है, जिनपर बुराइयों के ससर्ग से कुछ कल्मष न लगे? बहुतसी पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हे पढकर कोई युवा पुरुष बिना हानि उठाए नहीं रह सकता। यदि ऐसा भी हो सकता हो, यदि काजल की कोठरी मे जाकर वह कालिख से बच भी सकता

हो, तो भी उसे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता । पहाड पर चढकर ककड चुनने मे क्या लाभ ? नदियो और तालो में मोती नही मिल सकते । कुरुचिपूर्ण पुस्तको मे समालोचक लोग रचना के चाहे कितन ही चमत्कार दिखलावें, पर उनकी कुप्रवृत्ति के कलक को नहीं मिटा सकते । ग्वाल, देव आदि कवियो में रस और अलकार की पूर्णता और उक्तियों की अपूर्वता का जो आनन्द है, वह उस हानि से घटकर है जो पाठक को उनकी विलास-वासना पूर्ण वाक्यावली से हो सकती है । इससे हमें क्या पढना चाहिए, इसका पूर्ण विचार रखना चाहिए, अच्छी पुस्तको का ग्रहण और बुरी पुस्तको का त्याग करना चाहिए, हमें यह देख लेना चाहिए कि कौन पुस्तकें पवित्र और सारगर्भित हैं और कौन पुस्तकें अपवित्र और नि सार । मन, वचन और कर्म्म से किए हुए पापों के लिये हम उत्तरदाता हैं और पढने का सबध मन से है । प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यास-लेखक स्कॉट ने जब जाना कि उसके अतिम दिन निकट आते जाते है, तब उसने कहा— "अब मेरे जीवन का अतिम दिन निकट आता जाता है, अब मैं इस ससार-रूपी रग भूमि से विदा होना चाहता हूँ । मैंने अपने समय में सबसे अधिक पुस्तकें लिखीं और मुझे यह सोचकर परम सतोष है कि मैंने अपनी पुस्तकों द्वारा किसी मनुष्य का धर्म-विश्वास डिगाने वा किसी मनुष्य का सिद्धान्त दूषित करने का प्रयत्न नहीं किया । मैंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जिसे मृत्यु-शय्या पर पडने के समय मैं मिटा देना चाहूँ" । इसी प्रकार जब

हमारी आयु पूरी होती दिखाई देगी, जब हमारे जीवन का अवसान निकट जान पडेगा, तब हमे यह सोचकर बडी शान्ति होगी कि हमने ऐसी कोई पुस्तक नहीं पढी जिसे मृत्यु शय्या पर पडने के समय हम भूल जाना चाहें।

मैंने अब तक जो कुछ कहा है, वह कुवासनापूर्ण पुस्तकों ही को लक्ष्य करके, पर मेरी चेतावनी ऐसी पुस्तकों के विषय में भी है जिनकी रचना दूषित है, जो आडबर पूर्ण कृत्रिम शब्दावली से भरी हैं, जिनकी वर्णन शैली भद्दी और जिनके विचार निकम्मे हैं, और जिनकी ओर ध्यान देना समय और श्रम को नष्ट करना है। रसविहीन शब्दाडबर-पूर्ण काव्य, बनावटी इतिहास, प्रचलित सशयवाद, उद्वेगपूर्ण उपन्यास—इनको विद्यार्थी अपने मार्ग से दूर रखे, क्योंकि वे उसकी उन्नति में बाधक ही होंगे। महात्मा लोग कह गए हैं कि ऐसी बातो को ग्रहण करना चाहिए जो ऊँची हों। पर यदि हम अत करण को मूर्खता, प्रमाद और असत्य द्वारा पतित होने देंगे तो यह कैसे हो सकेगा ? पुस्तकालयों और विद्यार्थियों के लिये महात्माओ का यह उपदेश कितना अमोल है। पढना उसी को चाहिए जिससे कुछ शिक्षा मिले, न कि केवल उद्वेग उत्पन्न हो, जिससे कुछ आवे, न कि केवल ऊल-जलूल विचार हो। अध्ययन सूर, तुलसी ऐसे कवियो का करना चाहिए जो मानव प्रकृति को प्रत्यक्ष करते हैं, ग्वाल और देव ऐसे कवियों का नहीं जो विषय वासना को उत्तेजित करते हैं। पढन में इसको अपना अटल सिद्धान्त रखना चाहिए।

अब पूछो कि यह कैसे जानें कि कौनसी पुस्तकें अच्छी और पढने योग्य हैं और कौनसी पुस्तकें बुरी और रद्दी मे फेंकने योग्य है, तो मैं यही कहता हूँ कि इस विषय में लोकमत और परम्परा गत आलोचना को प्रमाण मानकर चलना चाहिए। बुरी पुस्तकों पर संसार ने कलंक का टीका लगा दिया है, जो प्रत्यक्ष है। यदि तुम आँख खोलकर देखोगे तो वह स्पष्ट दिखाई देगा। यंत्रालयों से जो अनेक प्रकार की पुस्तकें नित्य निकला करती है और जो पद योजना तथा वर्णन-शैली की विलक्षणता के कारण कुछ दिनों तक बहुत प्रिय रहती हैं, उनके विषय में यह सहज में निश्चित किया जा सकता है कि उनके पढने से कोई लाभ होगा या नहीं। एक प्रकरण क्या, एक पृष्ठ ही पढने से उनका उद्देश्य और भाव प्रकट हो जायगा। स्थालीपुलाकन्याय से एक चावल से सारी बटलोई का पता चल जाता है। एक चावल जिसे अच्छा लगेगा, वह बटलोई का भात रुचि के साथ खायगा, यदि कच्चा या जला मालूम होगा, तो छोड़ देगा। जब मैं कुछ पढ़ता हूँ, तब किसी अच्छे उद्देश्य से पढता हूँ। बहुतसी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें देखते ही प्रकट हो जाता है कि वे उन सिद्धान्तो के प्रतिकूल हैं जिन्हें मैं उत्तम समझता हूँ। ऐसी पुस्तकों के विषय में मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे उन्हे पढना ही चाहिए। यदि कोई मनुष्य मुझसे आकर कहे कि मैं बड़ी गूढ युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करूँगा कि दो और दो पाँच [illegible] तो मुझे उसकी बातें सुनने की अपेक्षा [illegible]। यदि सुरब्बे का

एक टुकड़ा मुँह में रखते ही मुँह का स्वाद बिगड़ जाय, तो हमें यह देखने के लिये कि मुरब्बा रखना चाहिए या नहीं, सबका सब खाने की आवश्यकता नहीं है। बीस भागों में समाप्त किसी बड़े, पर साधारण, ग्रंथ के तीन चार भाग पढ़कर ही हमें ग्रंथकार की शक्ति और पहुँच का अन्दाज कर लेना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि यदि हम बीसों भाग पढ़ जायँगे, तो भी हमें कोई उच्च भाव, गंभीर अन्वीक्षण वा हृदय का सच्चा उद्‌गार न मिलेगा। ऐसे बीस भागों को पढ़ने से कोई लाभ नहीं। ऐसे बहुतसे लोग पाए जाते हैं जो किसी फल की कामना से या किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए किसी ग्रंथ का पाठ, बिना उसके अभिप्राय से कोई संबंध रखे हुए, सप्ताह वा महीने के भीतर जैसे तैसे समाप्त करते हैं। विद्यार्थी को ऐसी कोई आफत नहीं पड़ी है। हमें क्या पड़ी है कि हम किसी अपरिचित की निकम्मी बातें सुनने जायँ? इसी प्रकार हमें क्या पड़ी है कि हम कोई बुरी पुस्तक पढ़ने जायँ? जिस प्रकार हम एक से अपना पीछा छुड़ाते हैं, उसी प्रकार दूसरी से भी अपना पीछा क्यों न छुड़ावें?

—रामचन्द्र शुक्ल



सागर और मेघ

सागर—मेरे हृदय मे मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण हैं—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही वारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व।

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमडी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक। क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं ?

मेघ—(मुसकराया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुतसा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोडती है, उसी से कर देने की निरन्तरता कायम रहती है।

सागर—वाष्पमय शरीर ! क्या बढ-बढकर बातें करता है। अन्त को तुझे नीचे गिरकर मुझी में विलाना पडेगा।

मेघ—खार की खान ! ससार भर से नीच ! सारी पृथ्वी के विकार ! तुझे मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुझे अमृत वारि-धारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व । सूर्य का यश अपने पल्ले ।

बादल—(अट्टहास करता है) क्यों मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ । वह उसी के विनिमय में यह करता है । उसका यह कर्म मेरी सम्पत्ति है । वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है ।

सागर—और मैं जो उसे रोज विश्राम देता हूँ ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है ।

सागर—तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता ।

मेघ—(इठलाकर) धन्य रे व्रती, मानों श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता हो । क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गभीरता से) और वाडव जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ । तनिक उस-पर तो ध्यान दो ।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और नहीं, कुछ शुद्ध स्वार्थ है, क्योंकि वह तुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय ।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि । हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय ।

मेघ—(एक साँस लेकर) आ ! यह हिंसा-वृत्ति । और क्या, मर्यादा-नाश क्या कोई साधारण बात है ?

सागर—हो, हुआ करे । मेरा आख्यान तो बढ़ जायगा ।

सागर और मेघ

सागर—मेरे हृदय मे मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण है—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही वारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व।

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमडी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक। क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं?

मेघ—(मुसक्राया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुतसा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोडती है, उसी से कर देने की निरन्तरता कायम रहती है।

सागर—वाष्पमय शरीर। क्या बढ-बढकर बातें करता है। अन्त को तुझे नीचे गिरकर मुझी मे विलाना पड़ेगा।

मेघ—खार की खान। ससार भर से नीच। सारी पृथ्वी के विकार। तुझे मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुझे अमृत वारि-धारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले।

बादल—(अट्टहास करता है) क्यों मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ। वह उसी के विनिमय में यह करता है। उसका यह कर्म मेरी सम्पत्ति है। वह तो बदले मे केवल विश्राम का भागी है।

सागर—और मैं जो उसे रोज विश्राम देता हूँ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर—तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ—(हँसकर) धन्य रे व्रती, मानों श्रद्धापूर्वक तू सूर्य का वह दान देता हो। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गम्भीरता से) और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ। गम्भीर प्रश्न पर तो ध्यान दो।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और नहीं, कुछ शुद्ध स्वार्थ है, क्योंकि वह तुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि। हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय।

मेघ—(एक साँस लेकर) आ! यह हिंसा-वृत्ति। और क्या मर्यादा नाश क्या कोई साधारण बात है ?

सागर—हो, हुआ करे। मेरा आयाम तो बढ़ जायगा।

मेघ—आ ! उच्छृङ्खलता की इतनी बडाई ?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश में इधर से उधर मारा-मारा फिरता है।

मेघ—धन्य तुम्हारा ज्ञान ! मैं यदि सारे आकाश में घूम-फिरके संसार का निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो जीवन-दान न करूँ, तो रसा नीरसा हो जाय, उर्वरा से वन्ध्या हो जाय। तू नीचे रहनेवाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्त्व को क्या जाने ?

सागर—यदि तू मेरे लिये ऊपर है, तो मैं भी तेरे लिये ऊपर हूँ, क्योंकि हम दोनो का आकाश एक ही है।

मेघ—हाँ ! निस्सदेह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय में ककड पत्थर और शख घोंघे भरे हैं।

सागर—बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को ककड-पत्थर और मोतियों को सीप घोंघे समझते हो।

मेघ—(बडे वेग से गडगड करके हँसता हुआ) तुम्हारे रत्न तो, तुम्हें मथकर, कभी के देवताओं ने निकाल लिये। अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो।

सागर—और मनुष्य जो इन्हे निकालने के लिये नित्य इतना श्रम करते हैं, तथा इतने प्राण खोते हैं ?

मेघ—वे अमरों की झूठी स्पर्धा करने मे मरे जाते हैं।

सागर—अच्छा ! जिनका स्वरूप प्रतिक्षण बदला करता है, उनकी दलील का कोटिक्रम ऐसा ही होता है।

मेघ—और जो क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकते, उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बातें हैं, क्यों न ?

सागर - अरे, अपनी सीमा मे रमने की मौज को अस्थिरता समझनेवाले मूर्ख ! तू ढेर-सा हल्ला ही करना जानता है कि—

मेघ—हाँ, मैं गरजता हूँ, तो बरसता भी हूँ। तू तो

सागर—यह भी क्यो नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ।

बादल—हाँ, आततायियो को समुचित दड देने के लिये।

सागर—कि स्वतत्रों का पत्त छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिये ?

बादल—हाँ, तू ससार को दलित करनेवाले उच्छृखलों का पक्ष क्यो न लेगा, तू तो उन्हे छिपाता है न।

सागर—मैं दीनों की शरण अवश्य हूँ।

बादल—सच है अपराधियों के सगी ! यही दीनो की सहायता है कि ससार के उत्पातियों और अपराधियो को जगह देना और ससार को सदैव भ्रम में डाले रहना।

सागर—दड उतना ही होना चाहिए कि दडित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय। अगर वह अपाहिज हो गया तो—

बादल—हाँ, यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिन्ता में नित्य शस्त्र लिए खडा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे।

और विपाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोडकर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उडेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक उजडा हुआ ग्राम बना। उसमें खँडहर और टूटी-फूटी झोपडियाँ हों। खेत और बाग झुलसे और उजडे पडे हों। एक ओर भीषण अग्नि धाँय-धाँय करती हुई जीभ लपलपा रही हो। जहाँ-तहाँ अत्याचार-पीडित पद-दलित अस्थि-कङ्काल पडे हों। भूख के मारे नन्हे-नन्हे बच्चे माताओं की गोद मे कलप रहे हो। लूट-खसोट और मार-पीट हो रही हो। सर्वत्र सर्वनाश का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्पस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई! यह तो किसी मानिनी नायिका का चित्र जान पडता है। कोपभवन खूब बनाया है। स्फटिक शिला पर एक मैली-सी सेज बिछी है। मानिनी उसी पर करवट लिये पडी है। सारा शरीर धूलि धूसरित है। केश खुले हुए हैं। अङ्ग पर एक भी भूषण नहीं, सब-के सब इधर-उधर पडे हैं। एक सहेली आपको पङ्खा झलती है और दूसरी हाथ पकड़े मना रही है। पतिदेव पैर पलोट रहे हैं! पर श्रीमती मानिनी देवी उस बेचारे की ओर देखती तक नहीं। चित्र कौशल तो तेरा, वास्तव मे, प्रशमनीय है, पर है यह सब घृणित और विपाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक

ं के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़कर फेंक दे, गन्दे रङ्ग
ल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है
ऐसा चित्र खींच। सबसे पहले एक शुभ्र मन्दिर बना। देख,
के चारों ओर अग्निदेव प्रखर ज्वालाएँ उगल रहे हों। मन्दिर
एक प्रलयङ्कारिणी महाशक्ति प्रतिष्ठित हो। उसके ज्वलन्त नेत्रों
वह्नि-शिखा निकल रही हो। अट्टहास की मुद्रा हो। दाँतों में
ली सी कौंधती हो। हृदय पर लाल फूलों का हार पडा हो।
ी भी लाल ही हो। सारा शरीर रुधिर से लथपथ हो। केश
तक लहरा रहे हों। एक हाथ अनाथ भक्तों के मस्तक पर हो
र दूसरे हाथ में हो रक्तरञ्जित कराल कृपाण। मन्दिर में
ण्ड तेज और प्रचण्ड पराक्रम का साम्राज्य हो। चित्रकार!
ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार
तुझे शीर्षस्थानीय दिया जायगा।

यह कैसा चित्र खींचा है, भाई। यह तो किसी सुरम्य उद्यान
चित्र जान पडता है। रचना तो खूब दिखाई है! लहलही
ओं के मडप और गहगहे गह्वर के ग्रीष्म भवन सचमुच ही
पम हैं। क्यारियों की छटा कुछ निराली ही है! गमलों की
वट देखने योग्य है। माधवी-निकुञ्ज क्या ही मनोमुग्धकारी
कहीं डालों पर रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी बैठे हैं, तो कहीं पख फैलाये
नाच रहे हैं। इधर कुछ मनचले रसिक जन हिंडोलों
झूल रहे हैं। अच्छा! यह जल-विहार का दृश्य है।
दूसरे पर जल छिड़क रहा है। कोई कमल की नली से

पानी गुडगुडा रहा है, तो कोई अर्द्धमुकुलित कलियों को तोड़-तोडकर उछाल रहा है। माधवी-निकुञ्ज में गान-वाद्य भी हो रहा है। इस चित्र को देखकर रसिक-मडली अवश्य कह उठेगी कि चित्रकार ने कलम तोड दी है। तेरा चित्रकौशल है भी प्रशसनीय, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्राङ्कण का तुझे क्या पुरस्कार दिया जाय ? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोडकर फेंक दे, गन्दे रङ्ग उडेल दे, निर्जीव उँगलियाँ काट डाल। तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक सघन वन-खण्ड बना। वह प्रान्त पहाड़ी हो। वहाँ एक निर्मल नदी भी बहती हो। तीर के वृक्ष झुककर उसके सुनील जल से आचमन कर रहे हों। नदी के तट पर एक ओर हृष्ट पुष्ट गायें पानी पीती हों, और दूसरी ओर छोटे-छोटे मृग शावक नव दूर्वा टूँग रहे हों। समय प्रभात का हो। प्राची को लालिमा से रँग देना। इधर उधर पक्षी उड रहे हों। कहीं ऋषियो और ब्रह्मचारियों का स्नान ध्यान हो रहा हो, तो कहीं सन्ध्या पूजा। कहीं स्वाध्याय होता हो, तो कहीं हवन। निर्धूम अग्नि खण्ड के समान ब्रह्मचारियों के मुख-मण्डल पर ज्वलन्त ओज दिप रहा हो। तपोवन ऋषियो के नेत्रों से शान्ति और आनन्द की धारा बहती हो। साराश, सर्वत्र विश्व प्रेम का साम्राज्य हो। चित्रकार ! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा ? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्ष स्थानीय दिया जायगा।

—वियोगी हरि

तीर्थ-यात्रा

बहुत दिनों से दर्शनोत्कण्ठा थी। उसे देखने को, न जाने कब से, मन उड़ रहा था। यह नहीं, कि कभी उसे देखा न हो। देखा था, कई बार देखा था, और जी भर देखा था। चरण स्पर्श भी एक बार किया था। मध्यमा वाणी द्वारा एकाध बार स्तोत्र-पाठ भी हो चुका था। पर, यह सब अन्यत्र, उसके तीर्थोपम स्थान पर नहीं। सुन रखा था कि वह वर्ष उसका 'अज्ञात वास' का वर्ष है। औरों की दृष्टि मे ऐसा ही होगा, पर हमारी नजर में तो वह वर्ष 'सुज्ञात वास' का सवत्सर था। हृदय पटल पर तो उसका चित्र मुद्दत से खिंचा था, पर प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाली आँखो को प्रतीति कहाँ ? हृदय और आँखों में समझौता न हो सका। बरसाती नदी की तरह उनकी तृष्णा प्रतिक्षण बढने लगी।

भक्ति से अधीर हो एक दिन वहाँ पहुँच ही तो गया। गरमी के दिन थे। सूर्य भगवान् क्षितिज रेखा को रक्तानुरञ्जित करने में व्यग्र थे। वृक्षों की छाया, सज्जनो की मैत्री के समान, पल पल पर बढती ही जाती थी, सान्ध्य गगन की ललित लालिमा कवि कल्पना को प्रगाढालिङ्गन दे रही थी। गो धूलि से सुनील आकाश पाण्डुवर्ण हो गया था। निदाघ ताप अब बहुत कम था। अस्तु,

उस स्थान की क्षेत्र-सीमा पर मैं पहुँचा। जिस पवित्र नदी के तट पर उस नर-श्रेष्ठ का आश्रम अवस्थित है उसमे, वृपादित्य की प्रचण्डता के कारण, जल की एक क्षीण रेखा दूसरे पार दिखाई देती थी। दूर तक बालू ही बालू नजर आ रही थी। वृक्ष झुलस से गये थे। सूखी पत्तियाँ झड-झडकर जहाँ-तहाँ बिछ गई थीं। कपास के पेड बडे सुहावने जान पडते थे। बीच मे एक खपरैल भवन था और उसके आस-पास कई छोटी-छोटी कुटियाँ। सादे रहन सहन के कुछ परिश्रमी व्यक्ति और क्रीड़ा-निरत बालक-बालिकाओ को उस स्वतन्त्रता-सदन के आँगन में देखकर मैं पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। आश्रम में बडी स्वच्छता और पवित्रता थी। उस तीर्थ-भूमि पर पैर रखते ही एक प्रकार की दिव्य शान्ति का अनुभव होने लगा।

दर्शन मिला। वह जगद्वन्द्य महापुरुप एक कुशासन पर आसीन था। आस पास कुछ साधक बैठे थे। उस समय वह सदाशय अपने सम्मुख प्रतिष्ठित देवता की अर्चा में निरत था। पूजा समाप्त होने को थी। उसके आराध्य देव का नाम 'सुदर्शन' है। मैंने उस स्थितप्रज्ञ महात्मा को साष्टाग प्रणाम किया, और थोडा-सा मानसिक स्तवन भी। मानसिक इसलिये, कि मुख से कुछ भी बडबडाने में संकोच और भय लगता था। वह मेरी ओर मुस्कराया। कुशल क्षेम पूछा, और कुछ स्नेहोद्गार भी प्रकट किये। मेरे सकीर्ण हृदय में आनन्दाब्धि लहराने लगा। मन ही मन बोला, बडा भाग्यवान हूँ, इस सौभाग्य पर क्यो न अभिमान करूँ?

हाँ, मानसिक स्तवन का भाव, जहाँ तक स्मरण है, कुछ कुछ ऐसा था—

"नरश्रेष्ठ ! तू वह आदर्श उपस्थित करने को धरातल पर अवतीर्ण हुआ है, जिसे हृदयस्थ कर आज नहीं तो कल अवश्य ही त्रिताप सतप्त जन समाज विश्व-वीणा के स्वर मे सजीव सुख-शान्ति का राग अलापने में समर्थ होगा।

"सत्यनिष्ठ ! तेरा जन्म और मरण दोनो ही सत्य-साधना के अर्थ हैं। सत्य को तू साकारता प्रदान कर चुका है। तेरा और सत्य का सौहार्द देखकर कौन कृतकृत्य न होगा ? धन्य तेरा सत्याग्रह ! धन्य तेरी सत्य निष्ठा !

"तपोधन ! तेरी तपस्या उनके निमित्त है, जो तिरस्कृत, पतित और पद दलित हैं, जो निर्धन, निराश्रय और निर्बल हैं, जो दीन, हीन और पराधीन हैं। तू बोता है, वे काटते हैं !

"शक्तिशालिन् ! तूने आज जगद्व्यापी हिंसा की भी हिसा कर डालने का सकल्प किया है। तभी तो तूने अपने अप्रमेय पराक्रम से बडे बडे बलवानो को भी थर्रा दिया है। तेरी प्रचण्ड शक्ति का परिणाम निस्सदेह 'जीवनोत्सर्ग' है, और जीवनोत्सर्ग ही तो मुक्ति का जनक है।

"धर्ममूर्त्ते ! तुझे किस धर्म का प्रतिनिधि कहे ? तेरी आत्मा में राम की मर्यादा, कृष्ण की कर्मण्यता, बुद्ध की अहिंसा, शकर की भीमता, चैतन्य की भावना, ईसा की दीनबन्धुता और मुहम्मद की कट्टरता आदि अनेक धर्म धारणाएँ विद्यमान हैं। तू सत्य ै

माध्यम द्वारा इन सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर रहा है। धन्य तेरा सत्प्रयास !

"भागवत-भूषण ! कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमानन्यता में गोपिकाओं की, कीर्तन में गौराङ्ग देव की, और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्त्ति सामने आ खड़ी होती है। भक्ति की मूर्च्छित लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींचकर अनुप्राणित कर रहा है।

"महात्मन् ! वास्तव में इस युग का तू एक ईश्वरीय रहस्य है। तुझे नमस्कार है ! शत सहस्रश नमस्कार है !!"

उस पुण्यश्लोक की मुट्ठी भर हड्डियों के दर्शन-लाभ से निश्चय ही मेरी मृतप्राय आत्मा में एक नवीन और पवित्र जीवन का सचार हुआ। तीर्थ यात्रा सफल हुई। उस महानुभाव की अनिर्वचनीय अवस्था देखकर मुख से हठात् यह भगवदुक्ति निकल पड़ी—

'एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ ! नैना प्राप्य विमुह्यति।'*

—वियोगी हरि



* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ७२।

साहित्य की आलोचना

आलोचना का कार्य

साहित्य क्षेत्र में, ग्रंथ को पढकर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है, यहाँ तक कि स्वय आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पडेगा।

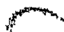
किसी ग्रंथ की आलोचना करने के समय हम उस ग्रंथ और उसके कर्त्ता का वास्तविक अभिप्राय समझना चाहते हैं, और तब उसके संबध मे अपनी कोई सम्मति स्थिर करना चाहते हैं। दूसरों ने किसी ग्रंथ या उसके कर्ता की जो आलोचना की हो, उससे भी हम लाभ उठा सकते हैं, पर वह लाभ उतना अधिक और वास्तविक नहीं हो सकता जितना स्वय अध्ययन करने से होता है, क्योंकि उस दशा में हम उस आलोचक के विचारों से प्रभावान्वित हो जायँगे और अपनी निज की कोई सम्मति स्थिर करने में

असमर्थ होंगे। हाँ, अपनी आलोचना में हम दूसरे आलोचकों के अध्ययन और आलोचना से कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमे वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-सम्पन्न होता है, उसका अध्ययन भी अधिक गभीर और पूर्ण होता है, और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न-भिन्न अगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग में एक अच्छे मित्र और पथ दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखें खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी सम्मति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमें संदेह नहीं कि उसकी आलोचना से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके सम्बध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामो को एक साथ मिला देते और व्याख्या के अतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है

जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रंथ के विषय में उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा-पूरा अध्ययन करना पड़ेगा, उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौनसी बातें साधारण और क्षणिक हैं और कौनसी बातें विशेषतायुक्त और स्थायी हैं, तथा उसे इस बात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन सिद्धांत आदि हैं। उस ग्रंथ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनका वह प्रकाश करेगा और उसमें इधर उधर बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र करके उनपर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रंथ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों के सामने आप-से आप आ जायँगे। परन्तु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रंथ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के



दूसरे ग्रथों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पडने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसपर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है, सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परन्तु एक वात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एकमात्र उद्देश यही होगा कि वह स्वय उस ग्रथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह सभव है कि वह स्वय अपनी रुचि के अनुसार उसके सम्बध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

आलोचना का उद्देश

पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना वहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रथ मे जीवन की जो व्याख्या की गई है और जो दूसरी बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं, कला की दृष्टि से वह ग्रथ अच्छा है या नहीं, इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आप-से आप उठते है और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रथ को पढने से पहले कम से-कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कह रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रथो के सबध मे नहीं कह रहे हैं, वल्कि साधारण साहित्य के सम्बन्ध में कह रहे हैं, क्योंकि नीति

और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है। भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और वैज्ञानिक ग्रंथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतलाकर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भ शास्त्र के ग्रंथ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल भूगर्भ शास्त्र के पूर्ण पंडितों का ही काम है। साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के सम्बंध में जहाँ गुणों और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आप-से-आप आ जायगा।

"भिन्नरुचिर्हि लोकः"—वाले सिद्धांत के अनुसार सभी लोग अलग अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रंथ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, संभव है कि वही आपको बिलकुल पसंद न आवे। हमारी समझ में जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी की लोग लंबी-चौड़ी प्रशंसा कर सकते हैं। जो मनुष्य कुछ भी समझ रखता है, वह किसी ग्रंथ को पढ़ने के समय उसके संबंध में कोई-न-कोई, अच्छी या बुरी सम्मति अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई मित्र हमें



कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है, और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोईमत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो-तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत मे परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों-ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों-त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है, और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की सम्मतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन मे राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते

हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन-किन गुणों की आवश्यकता होती है।

आलोचक के आवश्यक गुण

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिए, और जिसमे ये सब गुण न हो, उसको समालोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज मे आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रथ को उसके बिलकुल वास्तविक स्वरूप में देखे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी, उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रथ के गुणो को न समझ सकेगा, यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो क्षीर-नीर के विवेक में असमर्थ होगा, और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अग्राह्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुणग्राहकता तो बहुतसे लोगों में हो सकती और होती है, पर रागद्वेष या पक्षपात से बहुत ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यज्ञ जॉन्सन के विषय में कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धान्तों से उनकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रथों की आलोचना तो वे बहुत ठीक ढग

से करते थे, पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जॉन्सन बहुत आदर करते थे, इसलिये उनके जीवन-चरितो मे उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ग्रे की कृतियो मे उन्हे कुछ भी गुण न दिखाई दिए। हमारे यहाँ हिन्दी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपातवश ग्रथों की आवश्यकता से अधिक प्रशसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखो के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिसके कारण या तो उन्हें दोषों और गुणों का ठीक पता ही नहीं चलता और या वे जान बूझकर उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम इस विषय मे और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट समझते है कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी कभी छोटे-मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रन्थ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुतसे लोग उन पुस्तकों के पढने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं, और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे किसी अच्छे ग्रन्थ से लाभ उठाने से वचित रह सकते हैं। अत समालोचक

के लिए पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के लिए एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी-कभी देखने में आता है कि अच्छे-अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी-कभी किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में बहुत ही अच्छे ढंग से और बहुत ही उपयुक्त सम्मति प्रकट कर सकता है, और उसकी उस सम्मति तथा आलोचना के ढंग को देखकर अच्छे-अच्छे पंडित चकित हो सकते हैं। इसका कारण कदाचित् यही होता है कि उसकी सम्मति विचारपूर्ण होने के अतिरिक्त राग द्वेष और पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्रायः अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीति आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भांडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान भांडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और

उसकी आलोचना राग द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने को तो आलोचना सभी लोग कर लेते है, पर आलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए। यदि उसमें इन बातो का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक-ठीक और न उदारता-पूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या सम्मति का भी कोई आदर न होगा।

तुलनात्मक आलोचना

अब हम एक दूसरे प्रकार की आलोचना के सबध में, जिसे तुलनात्मक आलोचना कहते हैं, कुछ बातें बतलाना चाहते हैं। किसी एक पुस्तक की आलोचना करते समय कुछ लोग उसी विषय की और भी एक, दो या अनेक पुस्तकें अपने सामने रख लेते हैं, और उन पुस्तकों से तुलना करते हुए वे आलोच्य पुस्तक की आलोचना करते हैं। आलोचना का यह ढग बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे इस बात का पता लगता है कि एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने किस प्रकार विचार किया है, अपने अपने विचारों को उन लोगों ने किस प्रकार प्रकट किया है, किसकी रुचि और वर्णन-शैली कैसी है, किसमें किन बातों की विशेषता और किसमें किन बातो की न्यूनता है, इत्यादि-इत्यादि। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की आलोचना का बहुत ही सूक्ष्म रूप से आरम्भ

हुआ है। उदाहरण के लिए पंडित पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना है। अभी इस प्रकार की आलोचना के लिये बहुत ही विस्तृत क्षेत्र खाली पडा है। जिस समय हमारे यहाँ इस प्रकार की यथेष्ट आलोचनाएँ हो जायँगी, उस समय हमारे साहित्य की केवल मनोरंजकता ही नहीं बढ़ जायगी, बल्कि और भी अनेक प्रकार से उसकी उन्नति होगी, क्योंकि ऐसी आलोचनाएँ हमे विचार और रचना आदि के नए नए मार्ग दिखलाती हैं और साहित्य में कूड़ा करकट नहीं इकट्ठा होने देतीं।

इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य का अध्ययन भी बड़े काम का होता है। जब इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत हो जाता है, तब दूषित और अनुचित आलोचनाओं का मार्ग भी बंद हो जाता है। ज्यों-ज्यों इस प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी मनोरंजकता और उपयोगिता भी बढती जाती है, और अंत में ऐसे साहित्य का एक अलग इतिहास तैयार हो जाता है, जो साहित्य के इतिहास के परिशिष्ट का काम देता है। बात यह है कि ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है और ऐसी आलोचनाएँ तैयार होती जाती हैं, त्यों-त्यों लोगों की विचार शैली और मत भी बदलता जाता है। इस उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण आलोचनात्मक साहित्य को जो रूप प्राप्त होता है, वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन और मनन में बहुत बडा सहायक होता है।

विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञान में मनुष्य समाज का वर्णन नहीं रहता, उसमें प्राकृतिक अनन्त सत्यों का दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान में ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव देखकर उन्हे मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। यदि हम किसी कृति में सत्य का स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थ के ध्येय का अनुगमन करना चाहिये। हमें इसी दृष्टि से साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

(१)

साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य मे कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान में तर्क का। काव्य कभी भी तर्क का सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत हैं और इतिहास विज्ञान मे सम्मिलित किया जा सकता है। काव्य का कार्य-क्षेत्र अतर्जगत् है और विज्ञान का उपादान बहिर्जगत् है। हम लोग प्राय बहिर्जगत् की ओर ध्यान देते हैं। अधिकाश लोगों के लिए प्राय सत्य का रूप बाह्य जगत् मे ही परिमित होता है। अन्तर्जगत् की घटनाओं में वे सहसा सत्य का स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थर के लगने से फल का गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे, परतु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अध पतन में सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नहीं है। वैज्ञानिकों के आविष्कारों की सत्यता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु जब कवि अपनी कल्पना

द्वारा अन्तर्जगत् का गूढ रहस्य समझने लगता है, तब कुछ लोग सदिग्ध चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझते हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पडेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए। जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश में उडता है। कहानियों में हमने मनुष्यों के उडने की बात सुनी भी है। इसमें न तो मनुष्य मिथ्या है, न आकाश असत्य है और न उडना शब्द ही गलत है। तो भी यह बात सच है कि मनुष्य आकाश में नहीं उड सकता। ससार में यह बात होती नहीं। तब इस कथन में सत्य क्या है? यदि कोई जन्मान्ध से कहे कि सोने का रग हरा होता है तो वह इसे स्वीकार कर लेगा, और यह मिथ्या बात स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपने जीवन में किसी प्रकार की [illegible] पड़ेगी।

सोने का रग हरा [illegible] भी वह [illegible]
करेगा। रग [illegible]
है। इसी प्रकार,
होने पर भी
चपला के
सुख-दु ख की
की सत्यता

रख दी जाय तो भी उससे कथा का रस नष्ट नहीं होगा।

सभी भाषाओं मे ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रन्थों के लेखक अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुसरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हे अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप मे प्रदर्शित कर सके ? कुछ समय पहले बगाल के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने 'लक्ष्मणसेन का पलायन' नाम का एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिकों का कहना था कि ऐसी घटना हुई नहीं। तब उसका चित्र क्यों बनाया गया ? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। बकिम बाबू के कुछ उपन्यासों मे इतिहास-विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों मे महाबतखाँ प्रतापसिंह के भाई माने गये है। हिन्दी में एक बार 'इला' नाम का एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बँगला-उपन्यास का अनुवाद था। इतिहास-विरुद्ध होने के कारण शायद उसपर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक दिया गया। बात यह थी कि वह अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक शेरीडन के एक नाटक का अनुवाद मात्र था। अनुवादक महोदय ने उसके पात्रों के नाम बदलकर ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमें उदयपुर के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोर युद्ध हुआ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखकों ने

इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी क्यों ?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी कथा को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रों को प्रत्यक्ष देख लें। कथा में मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और वही मुख्य भी है। परन्तु उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपन्यासकार ऐसे व्यक्तियों का नामोल्लेख कभी कभी कर देते हैं जिनसे पाठकों का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है। इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपयुक्त होता है। द्विजेन्द्रलाल राय ने महाबतखाँ को प्रतापसिंह का भाई बना दिया है। इससे उनके 'मेवाड़-पतन' के कथा-भाग का प्रभाव खूब बढ़ गया है, कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानों में स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही हैं। अतएव हमें कथा-भाग पर खयाल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेजी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परन्तु एक दम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि प्रणीत इतिहास

और मनुष्य -चरित कहानी, इन्हीं दोनों के मेल से तो मनुष्य संसार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ अशोक और अकबर सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसधान में समुद्र को पार कर चला गया था, वह भी सत्य है। हनूमा गधमादन पहाड को उखाड लिया था, यह भी उनके लिए है। कौन अधिक प्रमाणिक है और कौन कम प्रमाणिक है, उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की से, कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास मे पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है, परन्तु उपन्यास सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न-भिन्न उपन्यासों मे भि भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सभव है कि किसी उपन्यास में पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दं एक कभी नहीं हुए हैं। श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासो से भी इतिह का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटन नहीं हैं। सच तो यह है कि उपन्यासों में बाह्य ससार की घटन दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वय महत्त्व पूर्ण नहीं औपन्यासिक पात्रो को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लि किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पडता है। पर ज्यों ही उनकी जीवन लीला आरम्भ होती है त्यों ही हमारा ध्य देश और काल से हटकर उन पात्रो पर ही केन्द्रीभूत हो जा

है। लेखक का कला नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णन से पूर्ण लम्बे-लम्बे परिच्छेदों से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती, वह उन दो चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुँह से निकलते हैं।

(२)

भारतवर्ष के साहित्य सेवियों में औपन्यासिकों की सख्या सबसे अधिक है। यह हाल प्राय सभी देशों का है। उपन्यासों से सबसे बडा लाभ यह है कि उनसे घडी आध घडी अच्छा मनोरञ्जन हो जाता है। इसीलिए उनका प्रचार भी अच्छा है। यदि उपन्यास लेखक में इतनी कुशलता हो कि वह अपने ग्रन्थ में चित्ताकर्षक घटनाओं का समावेश कर दे तो उसका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं होगा। आलोचक भले ही कहते रहें कि इसमें न तो मानव चरित्र का विश्लेषण है और न समाज का यथार्थ चित्रण है। पर उसमे लोकप्रियता तो होगी। कुछ विद्वानों की यह राय है उपन्यास शिक्षाप्रद अवश्य हों, कम से कम उनमें सदाचार का सहार तो न किया जाय। पर कितने ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें इस बात की जरा भी परवा नहीं रहती कि पाठकों पर उनकी कथा का कैसा प्रभाव पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन है। परंतु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की जरूरत

और मनुष्य -चरित कहानी, इन्हीं दोनों के मेल से तो मनुष्य का ससार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसंधान मे सात समुद्र को पार कर चला गया था, वह भी सत्य है। हनूमान् ने गधमादन पहाड को उखाड लिया था, यह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रमाणिक है और कौन कम प्रमाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से, कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास मे पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है, परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न-भिन्न उपन्यासों में भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सभव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो, पर दोनों एक कभी नही हुए हैं। श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासों से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। सच तो यह है कि उपन्यासों में बाह्य ससार की घटनाएँ दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वय महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पडता है। परन्तु ज्यों ही उनकी जीवन लीला आरम्भ होती है त्यों ही हमारा ध्यान देश और काल से हटकर उन पात्रों पर ही केन्द्रीभूत हो जाता

अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्श को दूसरों पर क्यों लादना चाहते हैं? वे पाठकों को इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वय उनके पात्रों की परीक्षा करें। कोई कहानियो को धर्म-शास्त्र समझकर तो पढता नहीं। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढने क्यों बैठेगा, धर्म-शास्त्र की बातें जाननी हो तो वह कहानी पढने क्यों बैठेगा, धर्म शास्त्र का अध्ययन न करेगा? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रों के व्यक्तित्व-विकास पर जोर देना चाहिए। मतलब यह कि मनुष्यों के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

सदाचार का सम्बन्ध समाज से है। सत् और असत् की जो धारणा हम लोगों में है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत् क्या होगा? मनुष्य मे जिन नैतिक वृत्तियों का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्तन के साथ उन नैतिक वृत्तियों में भी परिवर्त्तन होता है। समाज में परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है

हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती है जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकाश लोगों का ऐसी बातों से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। संसार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझकर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं। वे धर्मशास्त्र के आचार्य बनकर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं।

आजकल भारतवर्ष के अधिकाश औपन्यासिक अपने उपन्यासों में समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ में विधवा-विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फ़क़ीरों की दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचीनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री-शिक्षा के प्रेमी सास-ननदों के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी सुशिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियों में स्थानाभाव से समाज-सुधार की इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठकों का ध्यान उधर

सदैव उत्कृष्ट आचरण नहीं माना जा सकता।

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियों की तुलनात्मक समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते हैं। इसी कारण चरित्र का माहात्म्य देखना उनके लिए असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी सकुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नहीं समझ सकते। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

(३)

आजकल सभी देशों में उपन्यासों की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक रचना का मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यों की ज्ञान वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जागृत हों। परतु अधिकाश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद्भावनाओं का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रभाव समाज के लिए बडा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बड़े बडे विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकाश परीक्षकों की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य में कुरुचिपूर्ण ग्रन्थों ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य में मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बडा

कि सदाचार का कोई भी आदर्श स्थिर नहीं रहेगा। आदर्श के नाम से सदाचार का कोई भी साँचा नहीं बनाया जा सकता जो सदैव मनुष्यों को एक ही रूप में ढाल सके। कहा जाता है कि धर्म का नाश कभी नहीं होता, सत्य की सदा विजय होती है। जो सत्य है वह देश और काल के अतीत है। अच्छा अच्छा ही रहेगा और बुरा कभी अच्छा नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य में धर्म का ज्ञान सदैव बना रहता है। असभ्य जातियाँ भी धर्म के ज्ञान से रहित नहीं होतीं। अच्छे और बुरे की भावना सभी में रहती है। परन्तु जब यह भावना कार्य-रूप में प्रकट होती है तब उसके विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। जिस हिन्दू के लिए विधवा-विवाह अधार्मिक है, वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा-विवाह अधार्मिक न रहेगा। यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नहीं कहेगा, परन्तु अवस्था बदलने पर वह किसी धार्मिक कृत्य को अधार्मिक कह सकता है। साहित्य में जिस सदाचार का चित्र रहता है वह किसी विशेष काल के विशेष समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि किसी कवि की कृति में सदाचार का उत्कर्ष अंकित हुआ है तो इसका मतलब यही है कि मनुष्य के आचरण में वह उत्कर्ष उसी समय में और उसी समाज में माना जा सकता है जिसमे वह कवि स्वय हुआ है। दूसरे समय और दूसरे समाज मे वह उत्कर्ष जीवन में प्रकट नहीं हो सकता। आचरण के उत्कर्ष को सभी लोग, चाहे वे किसी युग और किसी देश के हों, मानेंगे। परन्तु स्वय उत्कृष्ट आचरण

सदैव उत्कृष्ट आचरण नहीं माना जा सकता।

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियों की तुलनात्मक समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते हैं। इसी कारण चरित्र का माहात्म्य देखना उनके लिए असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी सकुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नहीं समझ सकते। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

(३)

आजकल सभी देशों में उपन्यासों की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक रचना का मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यों की ज्ञान वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जागृत हों। परतु अधिकाश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे असद्भावनाओं का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रभाव समाज के लिए बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसीलिए बड़े बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकाश परीक्षकों की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य में कुरुचिपूर्ण ग्रन्थों ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य में मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बड़ा

कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबों का निर्णय करना भी सहज नहीं है। हालब्रुक जॉन्सन नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि पत्रों मे कुत्सित साहित्य के विषय मे चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोडे ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकाश लोगों की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य मे उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए जिनमे प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार क विरुद्ध बातें लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबें हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते हैं। हालब्रुक जॉन्सन साहब का कथन है कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों के ग्रन्थों की गणना नहीं हो सकती। आपकी तो यह राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते है वही यथार्थ में पढने योग्य साहित्य है। आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थ में वे हैं जिनमे सत्य का सहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित है उनपर समाज की मुहर लगाकर भव्य रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है उन्हे लोग कचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकाश लोग जिन उपन्यासों को शिक्षादायक समझकर पढते हैं उन्हीं के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या सस्कारों का प्रचार होता है। स`साहित्य वह है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सतोप की शिक्षा देता है वह यथार्थ में अनिष्टकर है।

हिन्दी मे ही असत्य के प्रतिपादक 'शिक्षादायक' उपन्यासों का अभाव नहीं है। धर्म के पथ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यदि किसी समाज को मिथ्या आदर्शों से सतोष होता है, तो वह यही हिन्दू समाज है। अपने समाज की दुरवस्था की ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकार की चेष्टा न कर ये ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्री के पातिव्रत का स्मरण करा समाज के मिथ्या धार्मिक सस्कार और अन्ध विश्वास की पुष्टि करते हैं। समाज की मिथ्या धारणा के विरुद्ध भी कुछ कहना साहस का काम है। जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार और लाछना महनी पड़ती है। बात यह है कि समाज साहित्य पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भङ्ग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसी ने समाज की नीति के विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबाने की पूरी चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्य में व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अन्त मे उसी के द्वारा समाज की मर्यादा भग हो जाती है। जब हम साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमे यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्टकर है, परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह चित्र समाज के भविष्य

विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला के द्वारा समाज काल की गति को अवरुद्ध करना चाहता है उसकी भङ्गुरता का आभास हमें उसी चित्र से मिलता है। समाज के पास धर्म का एक साँचा होता है। वह उसी जीवन को धार्मिक समझता है जो उस साँचे मे ढला रहता है। वह धर्म को जीवन से पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवन से नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्म के आधार पर निर्मित होता है। धर्म के अन्तर्गत होने से पितृ-स्नेह धार्मिक है, मनुष्य-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से वह धार्मिक नहीं है। यदि समाज की आज्ञा हो तो व्यक्ति को महाराज दशरथ की तरह पुत्र स्नेह भी छोडना पडता है। अपनी धर्म-पत्नी के अधिकारों की अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्रजी को सीताजी का त्याग करना पड़ा। समाज का शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थ में धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू-धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू समाज ही सब कुछ है। धर्म का जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है एकमात्र वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाज से अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कहकर दबाना चाहता है। यही जब साहित्य में प्रकट होता है तब समाज के पक्षपाती आदर्श की दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्य में आदर्श की जो कल्पना की गई है वह बिलकुल

मिथ्या है। साहित्य में आदर्श की सृष्टि हो नहीं सकती। किसी विशेष परिस्थिति मे यदि किसी ने किसी प्रकार के जीवन को आदर्श माना हो, तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव जीवन के लिए आदर्श हो सकता है? जब लोग साहित्य में किसी आदर्श की सृष्टि कर यह कहते है कि वस्तुत जीवन ऐसा होना चाहिए, तब वे किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन करते हैं, आदर्श का नहा।"

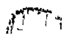
यह सच है कि साहित्य में जिन चरित्रों ने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है उनके प्रति मनुष्य की दृढ भक्ति है। हिन्दू-साहित्य में राम, कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, सीता, सावित्री आदि के चरित्र चिरस्मरणीय बने रहेंगे। ये हम लोगो के दैनिक जीवन में मिल गये हैं। यदि ये हिन्दू जाति की स्मृति से लुप्त कर दिये जायँ तो हिन्दू धर्म और भारतीय सभ्यता का विशाल भवन ढह जाय। वेद और शास्त्रों की चर्चा मे अल्पसख्यक विद्वान् ही निरत रहते हैं। अधिकाश हिन्दुओं का धर्म-ज्ञान राम और कृष्ण की कथा ही तक है। कुछ लोग कदाचित् यह कहें कि उपासना के केन्द्र होने के कारण इन्हीं चरित्रों पर हिन्दू-धर्म स्थापित है। परन्तु उपासना का कारण है इनके जीवन की सम्पूर्णता। उनकी ईश्वरता ध्यान-गम्य है, परन्तु उनकी मनुष्य लीला हृद्गम्य है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपना जो रूप दिखलाया वह योगियो के लिए है। सर्व साधारण तो उनके मनुष्य रूप ही पर मुग्ध हैं। अतएव साहित्य का एकमात्र ध्येय मनुष्य-जीवन की सम्पूर्णता है और

हिन्दी के उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें निपुण ग्रन्थकारों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परन्तु उस आदर्श को मनुष्य-जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीति के साधारण तत्त्वों को समझा नहीं है, वह यदि कल्पना के बल से उपन्यास में राजनैतिक जीवन का रहस्योद्घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस कहना चाहिए। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक समस्याओं का भी है। किसी विधवा को आजन्म ब्रह्मचारिणी अंकित कर देने से भारतीय समाज की दुर्दशा दूर नहीं हो जाती और न शिक्षित रमणी का विकृत चित्र खींच देने से स्त्रियों की समस्या हल हो जाती है। संसार में कर्मयोग का जीवित चित्र खींच देना साधारण काम नहीं है। बुद्धदेव अथवा प्रताप को नायक बना देने से ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। एक साधारण मनुष्य के जीवन में जो हलचल होती रहती है, पहले उसी का तो चित्र खींचा जाय, फिर किसी उच्च जीवन का विकास दिखलाया जाय। जो लोग बुद्धदेव के जीवन का रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवन की परीक्षा कर लें। जब तक वे अपने जीवन में बुद्धदेव की महत्ता का अनुभव नहीं कर लेंगे तब तक वे केवल कल्पना के सहारे बुद्धदेव के पास नहीं पहुँच सकते। रामचरित-मानस लिखने के लिए गोस्वामीजी की जरूरत होती है। रामचरितमानस गोस्वामीजी की कल्पना का फल नहीं है। वह

उनकी साधना का, अनुभूति का, फल है। हिन्दी के नये ग्रन्थों में दो-चार को छोड़कर सभी में इसी अनुभूति का अभाव है। कुछ लोग असाधारणता को ही उत्तमता समझते हैं। इसी के फेर में पड़कर लोग मनुष्य को न देखकर उसका स्वाँग देख रहे हैं।

साहित्य का उद्देश ज्ञान का प्रचार करना है, कम-से कम सत् साहित्य का यही उद्देश है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरञ्जन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञान लिप्सा। यदि उसमें ज्ञान प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो साहित्य के किसी भी अंग से उसको मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य मनुष्य-समाज को जानना चाहता है। इसी से इतिहास, नृतत्त्व शास्त्र, समाज शास्त्र राजनीति विज्ञान आदि शास्त्रों की सृष्टि होती है। वह मनुष्य के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसके अन्तर्निहित भावों को जानना चाहता है। इसी से काव्य का निर्माण होता है। वह प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करना चाहता है। इसी से विज्ञान की रचना होती है। जब वह बाह्य प्रकृति के साथ अपना सबन्ध ढूढने लगता है, तब समाज-शास्त्र की आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्य के मूल में ज्ञान है। साहित्य के जिस अंश से हम ज्ञान का जितना ही अधिक अंश स्वायत्त कर लेते हैं वह हमारे लए उतना ही अधिक उपादेय है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है।

कथा, उपान्यास् और आख्यायिका, ये काव्य के अन्तर्गत हैं।



कुछ लोगों की धारणा है कि इनका उद्देश केवल मनोरञ्जन है। इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासों से जितने अधिक लोगों का मनोरञ्जन होता है उतना अन्य किसी शास्त्र से नहीं होता। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं है। उपन्यास अथवा कथाओं से मनुष्य का मनोरञ्जन इसीलिए होता है, क्योंकि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्र से हमें परिचित कराता है और उपन्यास व्यक्ति से। यही दोनों में भेद है। राष्ट्र अथवा समाज का ज्ञान हमारे लिए जितना हितकर है उससे कम व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। एक मे हम राष्ट्र का उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरे में व्यक्ति का। जिस कथा से हमें मनुष्यत्व का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतनी ही अच्छी समझी जाती है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्य में उपन्यासों की क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश ही मानवीय स्वभाव की ज्ञान-प्राप्ति है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सीमा यहीं तक है, इससे अधिक हम नहीं जा सकते? उदाहरण के लिए, क्या कथाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें हमें श्रेष्ठ पुरुषों के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रों की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या? प्राचीन काल की कथाओं मे राजा और रानी की ही कहानियाँ वर्णित हुई हैं। रामायण, महाभारत, रघुवश आदि सभी काव्यो के नायक महापुरुष हैं। चरित्र-हीन, नीच, दुष्ट जनों को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नहीं की है। तो क्या ऐसे मनुष्यों का जीवन

प्रवर्णनीय है ? निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए को नहीं रह जाता। परन्तु ससार उठ नहीं जाता। वह जहाँ का तह चना रहता है। इसीलिए जो आँख मूँदकर चलने की चेष्टा कर हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से वो आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनों से परिचित जाय। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हमें मनुष्य-स्वभाव पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्र हीन के जीवन में मनुष जो विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। न्थों के पाठ से चित्त कलुषित नहीं होता। यथार्थ ज्ञान सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सकें, उन्हीं की रचनाओं मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त होता है। मनुष्य के लिए अध पतन अस्वाभाविक नहीं है। इस पतनावस्था में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्हीं में यह भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था में ले आवें। उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख



अवर्णनीय है ? निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए कोई नहीं रह जाता। परन्तु ससार उठ नहीं जाता। वह जहाँ का तहाँ बना रहता है। इसीलिए जो आँख मूँदकर चलने की चेष्टा करते है वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनो से परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बडी बात यह है कि हमे मनुष्य स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्र हीन के जीवन में मनुष्यत्व का जो विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रन्थों के पाठ से चित्त कलुषित नही होता। यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सकें, उन्हीं की रचनाओं में मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है। मनुष्य के लिए अध पतन अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु इस पतनावस्था मे जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्हीं में यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था मे ले आवें। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी



मध्यकालीन भारत की शासन-व्यवस्था*

प्राचीन भारत में राजनीति और शासन पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। हमारे देश में भी राजा के अधिकार किसी प्रकार नियंत्रित थे। यहाँ भी कई प्रजातंत्र राज्य थे, जिनको गणराज्य भी कहते थे। कई राज्यों में राजा चुना भी जाता था। राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की आवाज सुनी जाती थी। शासन प्रबंध बहुत उत्तम होता था।

शासन पद्धति

हमारे काल में भी हम इस प्रकार का शासन देखते हैं। हर्ष के राज्यकाल के ताम्रलेखों, हर्षचरित और हुएन्त्संग के वर्णन से तात्कालिक शासन-पद्धति का कुछ पता लगता है। राजा उस

* इस पाठ में मध्यकालीन भारत, 'हमारे काल', निर्दिष्ट काल' आदि से ईसवी सन् ६०० से १२०० तक का काल अभिप्रेत है। इसी काल की भारतीय संस्कृति पर इसके लेखक ने संयुक्त प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता में ई० स० १९२८ में प्रयाग में तीन व्याख्यान दिये थे। इस पाठ में तीसरे व्याख्यान का कुछ अंश उद्धृत है।—संपादक

समय सर्वेसर्वा नहीं था। उसकी मन्त्रिपरिषद् होती थी, जिसके हाथ में वस्तुत राज्य की प्राय सारी शक्ति रहती थी। राज्यवर्धन का प्रधान सचिव भडि था। राज्यवर्धन के मारे जाने पर भडि ने त्रिपरिषद् की बैठक बुलाकर देश की स्थिति समझाई और कहा कि 'राजा का भाई हर्ष कर्तव्यपरायण, प्रजाप्रिय तथा दयालु है। प्रजा उसपर विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसे राजा बनाया जाय। प्रत्येक मन्त्री इसपर अपनी सम्मति दें'। सब मन्त्रियों ने इसपर सहमत होकर हर्ष से राजा बनने की प्रार्थना की। इससे जान पडता है कि मन्त्रि-परिषद् का शासन में बहुत अधिकार था। भिन्न-भिन्न मन्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें साधिविग्रहिक, रणभाडागारिक, विनयस्थितिस्थापक (न्याय का प्रबधकर्ता), अक्षपटलाधिपति (आय-व्यय का हिसाब रखने-वाला) आदि मुख्य हैं। राजा का मुख्य कार्य शासन करना था। वह मन्त्रिपरिषद् से सलाह लिया करता था। राजा का कर्तव्य प्रजा में शाति रखना और उसकी रक्षा करना था। हुएन्त्सग ने लिखा है कि राजा का शासन दयायुक्त नियमों पर अवलम्बित था। प्रजा पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की जाती थी। क्षत्रिय लोग बहुत पीढियों से शासन कर रहे हैं, परन्तु उनका उद्देश्य प्रजोपकार और दया है*।

एकतन्त्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी और प्रजाहितैषी शासक (Benevolent Monarch) था। उस समय ब्राह्मणों

* वॉटर्स, ऑन् युवनच्वाग्ज ट्रैवल्स, जिल्द १, पृ० १६८।

आश्चर्य की बात यह है कि सब बातों में इतनी उन्नति होते हुए भी दिव्यसाक्षी (Ordeal) की क्रूर प्रथा अवश्य विद्यमान थी, †परन्तु बहुत ही कम उपयोग मे आती थी ।

क़ानून में स्त्रियों की भी राजनीतिक स्थिति स्वीकृत की जाती थी। उत्तराधिकार-संबधी नियमों में स्त्री की संपत्ति का भी

स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति

अच्छा विवेचन किया गया है। पुत्र के न होने पर लडकी ही पिता की संपत्ति की अधिकारिणी होती थी । अपने पितृ-गृह की ओर से मिलनेवाले धन पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व रहता था। मनु ने इसका उल्लेख किया है* ।

राज्य की ओर से व्यापार और व्यवसाय की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कारीगरों की रक्षा के लिये विशेष नियम बने हुए थे। यदि कोई व्यापारी अनुचित उपायों द्वारा वस्तुओं का मूल्य आदि बढा देता या बाट और नाप कम या अधिक रखता तो उसे दंड मिलता था।

उस समय के शासन का कुछ परिचय तत्कालीन कर्मचारियों

शासन प्रबन्ध

के नामों से मिलता है। राजा या सम्राट् के नीचे बहुत से छोटे-छोटे राजा होते थे, जिन्हे

† वॉटर्स, ऑन् युवनच्वाङ्ग ट्रैवल्स, जि० १, पृ० १७२। साचू, अल्बेरूनीज इंडिया, जि० २, पृ० १५८-६०।

* विनयकुमार सरकार, दि पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज ऑफ दि हिन्दूज, पृ० २७ ३०।

महाराजा, महासामंत आदि उपाधियाँ मिलती थीं। ये राजा सम्राट् के दरबार में उपस्थित होते थे, जैसा कि बाण के वर्णन से विदित होता है। कभी जागीरदार भी ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे। प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे। कई शिलालेखों में प्रांतीय शासकों के गोप्ता, भोगिक, भोगपति, राजस्थानीय आदि नाम भी मिलते हैं। प्रांतीय शासक विषय या ज़िले के शासक को नियुक्त करता था, जिसे विषयपति या आयुक्तक कहते थे। विषयपति अपने ज़िले के मुख्य स्थान में, जिसे अधिष्ठान कहते थे, अपना अधिकरण या दफ़्तर रखता था।

प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जाती थीं। एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभी ठीक मानी जाती थीं, जब कि उनपर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शासक की स्वीकृति हो, राजा के हस्ताक्षर और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठीक हों*। राजा की तरफ से दी गई तमाम सनदों पर राजमुद्रा की छाप होती थी, यहाँ तक कि दानपत्रों के साथ जुड़ी हुई और ताँबे पर ढली हुई बड़ी-बड़ी राजमुद्राएँ मिलती हैं, जिनमें कहीं कहीं राजा के पूर्वजों की पूरी नामावली तक रहती थी। ऐसी मुद्राओं में कन्नौज

---

* मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम्।
राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धिमाप्नोति शासनम्॥

शिलारावंशी राजा रट्टराज का शक संवत् ९३० (वि० सं० १०६५) का दानपत्र (एपिग्राफ़िया इंडिका, जि० ३, पृ० ३०२)।

के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव तथा मौखरी शर्ववर्मा आदि की मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं।

स्थानीय सरकारों के भिन्न भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं, जिनमें से हम कुछ यहाँ देते हैं, जैसे महत्तर (ग्राम-सभा का सभ्य), ग्रामिक (ग्राम का मुख्य शासक), शौल्किक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौल्मिक (किलों का अध्यक्ष), ध्रुवाधिकरण (भूमि कर लेनेवाला), भाडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला)। वर्तमान क्लर्क के नाम 'दिविर' और 'लेखक' थे। 'करणिक' आजकल के रजिस्ट्रार का काम करता था। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त दूसरे भी बड़े-बड़े कर्मचारी रहते थे। दंडपाशिक, चौरोद्धरणिक आदि पुलिस के कर्मचारियों के नाम थे* ।

आय-व्यय

राज्य की आय कई विभागों से होती थी। सबसे अधिक आय भूमि-कर से थी। भूमि-कर उपज का छठा हिस्सा होता था। किसानो पर भी एक आध और कर लगता था। ये कर अनाज के रूप में लिये जाते थे। मडपिका (चुगी कर) भी कई पदार्थों पर लगता था। बदरगाहों पर आनेवाले माल पर तथा दूसरे राज्यों से अपनी सीमा मे आनेवाले माल पर आयात कर लगता था।

* चिन्तामणि विनायक वेद्य, हिस्ट्री ऑफ् मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० १, पृ० १२८४१। राधाकुमुद मुकर्जी, हर्ष, पृ० १०३-१२।

बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धर्मशालाएँ और कुएँ बनाये जाते थे। राज्य की ओर से गरीब रोगियों के लिये औषधालय भी स्थापित किये जाते थे। सड़कों पर भी यात्रियों के आराम के लिये वृक्ष, जलाशय आदि का प्रबन्ध किया जाता था। राज्य की ओर से शिक्षणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी।

सार्वजनिक कार्य

इस शासन-प्रबंध के अतिरिक्त भारत की सैनिक व्यवस्था भी कम उन्नत नहीं थी। सैनिक विभाग शासन-प्रबंध से बिल्कुल पृथक् था। प्रांतीय शासकों का सेना पर कोई अधिकार नहीं था, उसके अधिकारी बिल्कुल स्वतंत्र रहते थे। प्राय हर समय युद्ध आदि की संभावना के कारण सेनाएँ काफी बड़ी रहती थीं। हर्ष की सेना में ६०००० हाथी और १००००० घोड़े थे। हुएन्त्सग ने हर्ष की सेना चार प्रकार की—हाथी, घोड़े, रथ और पदाति—बताई है*। घोड़े भिन्न-भिन्न देशों से मँगवाये जाते थे। बाण ने काम्बोजज, वनायुज, सिंधुज, पारसीक आदि घोड़ों की जातियों के नाम दिये हैं। पीछे से शनै-शनै रथों का प्रचार कम होता गया।

सैनिक प्रबंध

इन चार प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त जल-सेना भी बहुत सुसंगठित और व्यवस्थित थी। जिन राज्यों की सीमा पर बड़े बड़े दरिया होते थे वे नौ सेना रखते थे। समुद्री तट के राज्यों को भी नौ सेना रखने की आवश्यकता थी। हुएन्त्सग ने अपनी यात्रा के

* वॉटर्स, ऑन् युवनच्वांग्ज ट्रैवल्स, जि० १, पृ० १७० ७१।

प्रसग में जहाजों का वर्णन किया है। मलाया, जावा, वाली आदि द्वीपों मे हिन्दुओं के राज्य विद्यमान थे, इससे भी जलसेनाओं के सुव्यवस्थित होने का निश्चय होता है। चोल राजा बहुत शक्तिशाली जलसेना रखते थे। राजराज ने चेर-राज्य का जगी बेड़ा नष्ट कर लका को अपने राज्य में मिला लिया था। राजेन्द्र चोल का जगी बेड़ा निकोबार और अडमन द्वीपो (आजकल का काला पानी) तक पहुँचा था। स्ट्रैबो ने भारतीय सेना में जलसेना के होने का उल्लेख किया है। जलसेना की विद्यमानता बहुत प्राचीन काल से थी। मैगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की सेना का वर्णन करते हुये जलसेना का वृत्तात लिखा है। भिन्न भिन्न सेनाओं के लिये भिन्न भिन्न अफसर होते थे। सम्पूर्ण सेना के अधिकारी को महासेनापति, महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत कहते थे। पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को भटाश्वसेनापति कहते थे। घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को बृहदश्ववार कहते थे। युद्ध विभाग का कोषाध्यक्ष रणभाण्डागाराधिकरण कहलाता था। काश्मीर के इतिहास से एक 'महासाधनिक' का पता लगता है, जो युद्ध के लिये आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करता था*।

सेना के सिपाहियों को वेतन नकद दिया जाता था, पर प्रबध के अन्य कर्मचारियो को अनाज के रूप में दिया जाता था। स्थिर सेना (Standing army) के अतिरिक्त कठिन अवसरो

* चिन्तामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री ऑफ् मेडिएवल हिन्दू इण्डिया, जि० १, पृ० १४२-५५।

पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किये जाते थे*।

उपर्युक्त शासन व्यवस्था और प्रवध में हमारे निर्दिष्ट काल में बहुत परिवर्त्तन हुए। पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक

राजनीतिक स्थिति तथा शासनपद्धति में परिवर्त्तन

स्थिति वहुत अधिक अच्छी नहीं रही। छोटे-छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों मे विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन, प्रतिहार, यादव, गुहिल, राठोड आदि कई वंश अपनी-अपनी उन्नति में लगे हुए थे। सपूर्ण भारत के बहुतसे राज्यो में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ बिखर गईं। भारत मे एक-राष्ट्रीयता का भाव प्रबल रूप से नही था। इन राज्यो के पारस्परिक युद्धो से शान्ति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन-पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पडा। सब राजा शनै-शनै अधिक स्वतन्त्र और उच्छृंखल होते गये। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाये। राजा स्वय ही मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मन्त्रि-परिषद् नहीं थी। इस समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य,

* राधाकुमुद मुकर्जी, हर्ष, पृष्ठ ९७-९८।

पुरोहित, महाधर्माध्यक्ष, महासान्धिविग्रहिक, महासेनापति, महामुद्राधिकृत (राजमुद्रा का रक्षक), महाक्षपटलिक और महाभोगिक आदि अधिकारियों के नाम मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि शासन प्रबध मे विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इन अधिकारियों में 'महा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि इनके अधीन भी बहुतसे कर्मचारी रहते थे*। रानी और युवराज भी शासन में भाग लेते थे। कुछ राज्यों में छोटे-छोटे कर बढा दिये गये। पिछले राजाओं के समय में कई कर लगने का उल्लेख मिलता है। भूमि और कृषि आदि की भी व्यवस्था पूर्ववत् थी। क्षेत्रपाल और प्रान्तपाल आदि कई अधिकारियों के नाम मिलते हैं। आय व्यय-विभाग भी पहले की तरह ही था। न्यायालयों की भी व्यवस्था अच्छी थी। राजा की अनुपस्थिति मे प्राड्विवाक (न्यायाधीश) काम करता था। अलबेरूनी ने मुक़दमों के विषय में लिखा है—"अभियोग उपस्थित करते हुए वादी अपनी पुष्टि में प्रमाण देता था। यदि कोई लिखित प्रमाण न हो तो कम-से-कम चार गवाह चाहिएँ। उन्हें जिरह की आज्ञा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को हत्या के अपराध में प्राणदड नही दिया जाता था। उनकी सपत्ति लूटकर उन्हे देश निर्वासित कर दिया जाता था। चोरी के अपराध में ब्राह्मण को अधा करके उसका बायाँ हाथ और दहिना पैर काट दिया जाता था। क्षत्रिय अन्धा नहीं

* चितामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री ऑफ् मेडिएवल हिन्दू इण्डिया, जि० ३, पृ० ४४३ ५४।

पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किये जाते थे*।

राजनीतिक स्थिति तथा शासनपद्धति में परिवर्त्तन

उपर्युक्त शासन-व्यवस्था और प्रबंध में हमारे निर्दिष्ट काल में बहुत परिवर्त्तन हुए। पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति बहुत अधिक अच्छी नहीं रही। छोटे-छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन, प्रतिहार, यादव, गुहिल, राठोड आदि कई वंश अपनी-अपनी उन्नति में लगे हुए थे। संपूर्ण भारत के बहुतसे राज्यों में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ बिखर गईं। भारत में एक-राष्ट्रीयता का भाव प्रबल रूप से नहीं था। इन राज्यों के पारस्परिक युद्धों से शान्ति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन-पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पड़ा। सब राजा शनैः-शनैः अधिक स्वतंत्र और उच्छृंखल होते गये। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाये। राजा स्वयं ही मंत्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मंत्रि-परिषद् नहीं थी। इस समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य,

* राधाकुमुद मुकर्जी, हर्ष, पृष्ठ ९७ ९८।

को कहा। उसने वितस्ता (झेलम) के तट पर बहुत पानी देखकर बड़े-बड़े बाँध बँधवाकर उससे नहरें निकलवाईं। इतना ही नहीं, उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि का इस दृष्टि से वैज्ञानिक निरीक्षण किया कि उसके लिये कितने जल की आवश्यकता है। उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप खेती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों से ३६ दीनार तक हो गया। तामिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोककर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेन्द्र (१०१८-३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाये जाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाईं। इनकी समय-समय पर मरम्मत होती रही*। बहुतसे राजा स्थान-स्थान पर अपने नाम से बड़े बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुतसे स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा

* विनयकुमार सरकार, दि पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज ऑफ् दि हिन्दूज, पृ० १०३४।

किया जाता था*"। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक क्रूर दंड देने की प्रथा विद्यमान थी।

सैनिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो रहा था। राजाओं के पास अपनी स्थिर सेना रखने का रिवाज कम हो रहा था, परन्तु सरदारों और जागीरदारों के पास सेनाएँ रखने और युद्ध के समय पर उनसे सेनाएँ लेने का प्रचार बढ़ रहा था। भिन्न-भिन्न राज्यों की सेवा में दूसरे राज्यों के वीर सिपाही भरती किये जाते थे। पिछले ताम्रपत्र आदि से भी मालूम होता है कि इस समय भी महासेनापति और हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, जलसेना के भिन्न भिन्न अफसर, प्रेपणीक, गमागमिक आदि अधिकारी रहते थे†।

भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि था। उस समय प्रायः सभी प्रकार के अनाज और फल यहाँ होते थे। कृषकों की प्रत्येक प्रकार की सुविधा का पूरा खयाल रक्खा जाता था। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबंध था। नहरों, तालावों और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी। नहरों का प्रबंध प्रशंसनीय था। राजतरंगिणी में सूय नामक इंजीनियर का वर्णन आता है। काश्मीर में बाढ़ आने पर वहाँ के राजा अवंतिवर्मन् ने सूय से उसका प्रबंध करने

कृषि और सिंचाई का प्रबन्ध

* साचू, अलबेरूनीज इंडिया, जि० २, पृ० १५८-६३।

† चिन्तामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री ऑफ् मेडिएवल हिन्दू इंडिया, जि० ३, पृ० ४७०।

को कहा। उसने वितस्ता (झेलम) के तट पर बहुत पानी देखकर बड़े-बड़े बाँध बँधवाकर उससे नहरें निकलवाईं। इतना ही नहीं, उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि का इस दृष्टि से वैज्ञानिक निरीक्षण किया कि उसके लिये कितने जल की आवश्यकता है। उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम-स्वरूप खेती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों स ३६ दीनार तक हो गया। तामिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोककर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेन्द्र (१०१८–३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाये जाते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाईं। इनकी समय-समय पर मरम्मत होती रही*। बहुतसे राजा स्थान-स्थान पर अपने नाम से बड़े बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुतसे स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा

* विनयकुमार सरकार, दि पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशन्स एंड थ्योरीज ऑफ् दि हिन्दूज, पृ० १०३४।

थे और इसे वे बहुत प्राचीन काल से जानते थे। प्रोफेसर मैक्सडकर के कथनानुसार ई० पूर्व २००० में भी भारतीय इस कला से अभिज्ञ थे* ।

व्यापार के स्थलमार्ग

स्थलमार्ग से भी व्यापार बहुत बढा हुआ था। भारतवर्ष में व्यापार के लिये बडी बडी सडकें बनाई जाती थीं। इन सडकों का महत्त्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत था। एक विशाल सडक कोरोमडल तट (पूर्वी) से कुमारी अतरीप तक १२०० मील लबी थी, जिसे कुलोत्तुग चोड़देव (ई० स० १०७०–१११८) ने बनवाया था। सैनिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व था। हमारे समय से बहुत पूर्व मौर्यकाल में पाटलिपुत्र से अफगानिस्तान तक ११०० मील लबी सडक बन चुकी थी। साधारण सडकें तो बहुत जगह बनी हुई थीं†। स्थलमार्ग से केवल स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी व्यापार होता था। राइज डेविड्ज ने लिखा है— "स्वदेश और विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। ५०० बैलगाडियों के कारवान का वर्णन मिलता है"‡। स्थलमार्ग से चीन, बेबिलन, अरब, फारस आदि के साथ भारत का व्यापार

* दीवान बहादुर हरविलास [illegible] सुपीरि[illegible] पृ० २६४।

† विनयकुमार सरकार, दि पोलिटि[illegible] एड [illegible] ऑफ् दि हिन्दूज, [illegible]।

‡ दि जर्नल [illegible] [illegible]०

होता था। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में लिखा है कि यूरोप के साथ भारत का व्यापार निम्नलिखित मार्गों से होता था—

(१) भारत से पलमायरा नामक शहर द्वारा रोम होता हुआ सीरिया की तरफ।

(२) हिमालय को पार कर ऑक्सस होते हुए कैस्पियन सागर और वहाँ से मध्य यूरोप॥।

भारतवर्ष से अधिकतर रेशम, छींट, मलमल आदि भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र और मणि, मोती, हीरे, मसाले, गोरपत्र, हाथीदाँत आदि अधिक मात्रा में विदेशों में जाते थे।

भारतीय व्यापार

मिस्र की आधुनिक खोज में वहाँ की ममियों की कुछ पुरानी कबरों से बारीक भारतीय मलमल भी मिली है। विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष बहुत अधिक समृद्ध हो गया। प्लिनी ने लिखा है कि प्रतिवर्ष रोमन साम्राज्य से दस लाख पौंड (एक करोड रुपये) भारत में आते थे† और केवल रोम से चालीस लाख रुपये भातर में खिंचे चले जाते थे‡।

देश के आतरिक व्यापार में भिन्न भिन्न तीर्थों का भी बहुत महत्त्व था। इनके मेलों में सब प्रकार के व्यापारी और ग्राहक आते थे और बड़ी भारी खरीद-फरोख्त होती थी। आज भी हरिद्वार, काशी और पुष्कर आदि

मेले

॥ जिल्द ११, पृ० ४५९।

† नेचरल हिस्ट्री।

‡ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जि० ११, पृ० ४६०।

तीर्थों में होनेवाले मेले व्यापारिक दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं ।

आजकल भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश रह गया है, परन्तु पहले यह बात न थी। भारतवर्ष में व्यवसाय और उद्योग धंधे भी बहुत अच्छी अवस्था में थे। सबसे उत्तम व्यवसाय वस्त्रों का था। वस्त्र बहुत प्रकार के बनते थे। भारत मे महीन से महीन मलमल, छींट, शाल, दुशाले आदि कपड़े बनते थे। कपड़े रँगने की भी कला यहाँ बहुत उन्नत थी। वनस्पतियों से भी तरह-तरह के रंग निकाले जाते थे। यह आविष्कार भी पहले पहल भारतीयो ने ही किया था। नील की खेती तो केवल रंग के लिये ही होती थी। वस्त्र-व्यवसाय तो १८वीं शताब्दी तक चलता रहा और ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में नष्ट हुआ ।

व्यवसाय

लोहे और फौलाद के व्यवसाय की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। कच्चे लोहे को गलाकर फौलाद बनाना उन्हे प्राचीन काल से ज्ञात था। खेती आदि के सब प्रकार के लोहे के औजारों और युद्ध के हथियारों का बनना भारत में प्राचीन काल से चला आता था। लोहे का यह व्यवसाय इतना अधिक था कि भारत की आवश्यकताओं से बचकर फिनीशिया में जाया करता था। डाक्टर राय ने लिखा है—'दमिश्क के तेज धारवाले औजारों की बडी प्रशंसा की जाती है, परंतु यह कला फारस ने भारत से

धातुओं का व्यवसाय

सीखी थी और वहाँ से अरबवालों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया⊛'।

भारत के लोह-व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखाने के लिये कुतुब-मीनार के पासवाला लोह-स्तम्भ ही पर्याप्त उदाहरण है। इतना विशाल स्तम्भ आज भी यूरोप और अमेरिका का कोई बड़े से-बड़ा कारखाना गढ़कर नहीं बन सकता। आज उसे बने हुए अनुमान १५०० वर्ष हो गये, खुली हवा तथा वर्षा में रहने पर भी उसपर जंग का नाम नहीं, और उसकी कारीगरी भी प्रशंसनीय है। धार का जय-स्तंभ भी दर्शनीय वस्तु है। यह मुसलमानों के समय में तोड़ा गया था। इसका एक खंड २२ फुट और दूसरा १३ फुट का है। इसका एक छोटा-सा तीसरा खंड भी माँडू से मिला है। राजा लोग जयस्तंभ बनवाया करते थे। लोहे के व्यवसाय पर लिखते हुए मिसेज़ मैनिंग ने लिखा है कि आज भी ग्लासगो और शैफील्ड में कच्छ से अधिक अच्छा फौलाद नहीं बनता *। लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का काम भी बहुत अच्छा था। सोने-चाँदी के तरह-तरह के पात्र और जेवर बनते थे। पात्रों के लिये अधिकतर ताँबा प्रयुक्त होता था। भाँति-भाँति के रत्न काट-कर सोने में मढ़े जाते थे। कुछ सुवर्ण पत्रों पर ऐसी बौद्ध जातकें अंकित हुई हैं, जिनमें कई पत्र आदि पन्ने, माणिक वगैरह रत्नों के बने हुए हैं और पचीकारी के ढंग से लगे हुए हैं। रत्नों तथा कीमती स्फटिकों की बनी हुई मूर्तियाँ भी देखने में आई और

⊛ दी० ब० हरबिलास सारड़ा, हिन्दू सुपीरियोरिटी, पृ० ३५५।

* एन्श्यट एंड मेडिएवल इंडिया, जि० १, पृ० ३६५।

राजा की प्रिय रानी भी अपने नाम का सिक्का प्रचलित कर देती थी, जैसा अजमेर के चौहान राजा अजयदेव की रानी सोमलदेवी (सोमलेखा) के सिक्कों से पाया जाता है। प्रारंभ मे मुसलमानों ने अजमेर का राज्य छीनकर वहाँ के प्रचलित हिन्दू सिक्कों की नकल की, परंतु पीछे से उन्होंने अपने स्वतंत्र सिक्के बनाना शुरू किया।

भारत की आर्थिक स्थिति

भारतवर्ष कृषि, व्यापार, व्यवसाय, और अमूल्य खानों के कारण बहुत समृद्ध था। उस समय खाने-पीने की चिन्ता अधिक नहीं थी। नागरिक जीवन से भी मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय संपन्न और समृद्ध थे। व्यापार मे निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति दिन-दिन बढती जाती थी। भारतवर्ष में हीरे, नीलम, मोती और पन्नों की भी कमी नहीं थी। प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी भारत में उस समय विद्यमान था। प्लिनी ने भारतवर्ष को हीरे, मोती आदि क़ीमती पत्थरों की जननी और मणियों का उत्पादक कहा है। वस्तुत भारतवर्ष हीरे, लाल, मोती, मूँगे और भाँति भाँति के अन्य रत्नों के लिये प्रसिद्ध था। सोना भी यहाँ बहुत मात्रा मे था। लोहा, ताँबा और सीसा भी बहुतायत से निकलता था। अधिकाश चाँदी बाहर से आती थी, इसलिये महँगी रहती थी। आरम्भ में सोने का मूल्य चाँदी से अठगुना था, जो हमारे निर्दिष्ट काल के अंत में बढ़ता हुआ सोलह गुना तक पहुँच गया।

यह समृद्धि हमारे समय के अन्तिम काल तक विद्यमान

सोमनाथ के मंदिर में सोने और चाँदी की अनेक रत्नजटित मूर्तियाँ थीं। पास ही २०० मन सोने की साँकल थी, जिसके साथ घंटे बँधे होते थे। महमूद गजनवी उसी मंदिर से एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य की संपत्ति लूट में ले गया था। इसी तरह वह मथुरा और कन्नौज प्रभृति स्थानों से भी अनन्त धन-राशि ले गया। यदि भारत की तत्कालीन संपत्ति की जानकारी करनी हो तो उत्तर और दक्षिण भारत के उस समय के बने हुए सैकड़ों भव्य मंदिरों को देखना चाहिये, जिनके कलश, मूर्तियाँ या स्तंभ सोने, चाँदी अथवा रत्नों से जटित थे।

—गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा



चहचहाता चिड़ियाघर

स्वप्न के सुखमय संसार में, विश्व के विचित्र अद्भुतालय की वाणिज्य-विलास, शिल्प शाला, धर्म-धाम, समाज-सदन, राजनीति निकेतन, अकिञ्चन-कुटीर, मजदूर-मंजिल आदि संस्थाएँ देखते देखते जब जी ऊब उठा, तो अपने राम सीधे साहित्योद्यान की ओर सिधारे, और सोचने लगे कि चलो, इस शुष्कवाद के जलहीन जलाशय से निकलकर सरसता के सुन्दर सरोवर में स्नान करें, फक्कड़ता के झाड़-खण्डों को झाड़कर सहृदयता के सुखद सुमनों का सुगन्ध सूँघें। अहा! साहित्योद्यान का सुहावना द्वार देखने ही योग्य था। उसकी सुन्दर सुषमा का विशद वर्णन करने के लिए कवि-कुल कैरव कलाधर कालिदास की वरद वाणी चाहिये। क्या पूछते हो? साहित्योद्यान का दिव्य द्वार देखकर अपने राम चित्र लिखे-से रह गये। आँखें ठगी-सी ठिठक रहीं!! चित्त चुपके-से चिपक गया!!! पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इतने ही में उद्यान का अधिकारी आकर बोला—

"देखना है, तो आगे बढ़ो, नहीं तो दरवाजा बन्द होता है।"

मैंने कहा—"फीस?"

"फीस चीस कुछ नहीं, केवल सहृदयता का 'सार्टीफिकेट' साथ रखिये। अच्छा, यह तो बताइये, पहले आप इस विशाल बाग के किस भाग की सैर करेंगे ?"

"मैंने यह बाग पहले कभी नहीं देखा, इसलिये समझ में नहीं आता कि आपके इस सवाल का क्या जवाब दूँ।"

"अच्छा, बढ़िये आगे, और जो इच्छा हो सो देखिये।"

यह कहकर उस आदरणीय अधिकारी ने मुझे प्रधान द्वार द्वारा अन्दर पहुँचा दिया। अजीब नजारा था, अद्भुत दृश्य दिखाई देता था, गुल्म-लता, तरु-वल्लियों की असीम शोभा का ठिकाना न था। सुहावने वृक्षों और सुन्दर सुमनों की अपूर्व छटा मन को मुग्ध कर रही थी। कोयलों की कूकू और कबूतरों की गुटरगूँ ने 'समाँ' बाँध रक्खा था। जगह-जगह जलाशय भरे हुए थे, झरने झर रहे थे, नाले बह रहे थे और सोते हिलोरें मार रहे थे। जिधर निगाह उठती थी, उधर ही आनन्द का आधिपत्य दिखाई देता था।

उद्यान के अन्दर घुसते ही सामने एक चहचहाता 'चिड़ियाघर' दिखाई दिया। मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा! खुशी का खजाना मिल गया!! आनन्द की गंगा उमड़ पड़ी!!! अन्धे को आँखें प्राप्त हो गईं। चलो, पहले इस चहचहाते चिड़ियाघर की ही सैर करें, इसी की वर विचित्रता से अपने अतृप्त नयनों को तृप्त करें। 'पाटिया' (साइन बोर्ड) पर नागरी लिपि में कितने सुन्दर अक्षर लिखे हुए हैं, कैसा कौशल दिखाया गया है। साथी ने कहा—"अच्छा, आगे बढ़िये। देखिये, इस कमरे में हिन्दी का इतिहास सुरक्षित

है, उसमें पुरानी लिपियों और शिलालेखों का सग्रह किया गया है"।
"ठीक, परन्तु इन सब बातो को सोचने-समझने के लिये न अपने राम के पास ओझाजी का हृदय है और न उनका मस्तिष्क ! चलो, और आगे बढो !"

"अच्छा ! यह दूसरा कमरा है। इसमे चन्द बरदाई से लेकर भारतेन्दु तक के समस्त साहित्य-सेवियों की स्वर्गीय आत्माएँ अपनी-अपनी कृतियों पर अटल आसन जमाये विराजमान हैं"। "और आगे बढो भाई, ये तो फ़ुरसत में देखने की चीजें हैं। एक एक का अवलोकन करने के लिए महीनों और वर्षों चाहियें।"

अच्छा, यह कमरा क्या है ? ओहो !—इसमे सम्पादकों के पिजडे रक्खे हैं। वाह ! ये वहार तो देखने ही लायक़ है। किसी की दुम से दावात बँधी हुई है और कोई कान पर क़लम रक्खे कूद रहा है। किसी के पैरों मे पिनो की पैंजनियाँ पडी हैं, तो कोई पैंसिल को पजो में दबाए डोलता है, किसी की कैंची कयामत ढा रही है, तो कोई पोथियों का पुलन्दा चोंच में दबाए घूमता फिरता है। कोई पछी पिंजडे में पडा गरूर से गुर्रा रहा है और कोई वेचारा हाथ जोडकर 'हा–हा' खा रहा है। क्या ही विचित्र दृश्य है ! कैसा अजीव तमाशा है !!—अच्छा, इन पिञ्जर-बद्ध पक्षियों के कमरे के आगे क्या है ? सवाददाताओं का सन्दूक़, लेखकों का पिटारा, ग्रन्थकारों की गठरी, समालोचकों की टोकरी और व्याख्याताओं का वडल। अच्छा, इस गद्य-गली को छोड़िये, पीछे वापसी में देखेंगे, पहले पद्य प्रासाद की ओर चलें—उसकी रगत देखें।

आहा ! यह है पद्य प्रासाद ! इसमें तो भाँति भाँति के कवि-कारण्डव और काव्य कपोत किलोल कर रहे हैं । दूर-दूर के पद्य प्रिय पक्षी प्रस्तुत हैं । यहाँ परेरुओं के पख-प्रदर्शन से खूब आनन्द आता होगा, बड़ी रौनक़ रहती होगी । अजी जनाब ! रौनक़ की क्या पूछते हो, 'बहिश्त'-सी दिखाई देती है । फिर आज तो इन कवियों का बहुत बड़ा सम्मेलन होनेवाला है, खूब 'चोंच भिडन्त' होगी ! ज़रा देखना तो सही, कैसा मज़ा आता है । हाँ, हज़रत ! हमारे लिए तो यह बिलकुल ही एक नई बात होगी । अभी साढे तीन बजने में पन्द्रह मिनिट बाक़ी हैं । अच्छी बात है, आइये—इस घास पर बैठ जायँ और तीन-चार घंटे इस काव्य कौतुक का आनन्द लूटें ।

ठीक साढे तीन बजे कवि-सम्मेलन शुरू हुआ । सभापति का आसन गद्यपद्याचार्य गुरुवर गरुड़देव ने ग्रहण किया । आपने अपने भावपूर्ण भाषण के अन्त में कहा—"महाशयो, सौभाग्य से इस पद्य प्रासाद में विविध प्रकार की बोलियाँ बोलनेवाले कृतविद्य कविवर उपस्थित हैं । सबको समान रूप से चहकने-चटखने और चहचहाने का मौका दिया जायगा । बढ़िया बोलने-वालों को, सोने-चाँदी की पैंजनियाँ पहनाई जायँगी और कण्ठ में कलाबत्तून के कण्ठे डाले जायँगे । देखना, गम्भीरता और सभ्यता हाथ से न जाने पावे ।"

इतने ही में कतिपय 'साहित्य-ढूँठों' ने अपनी विद्वत्ता का बखान करते हुए सभापति के सारगर्भित भाषण पर बड़बड़ाहट

शुरू की ! कर्ण कटु काँव-काँव मचाई !—अपनी प्रतिभा की प्रचण्डाग्नि से काव्य-कलिका को झुलसाना चाहा। गुरु गरुडजी के गौरव-गुलाल पर गन्दगी के गट्ठर गिराने की चेष्टा की। गुब-रीला पद्म पर प्रभुता पाने का प्रयास करने लगा, और स्यार सिंह पर दुलत्ती झाड़ने को समुत्सुक हुआ ! परन्तु सब निष्फल ! सब व्यर्थ !! उपस्थित कवि-वृन्द ने सारे 'साहित्य-ढूँठों' का ठाठ बिगाड़ दिया, बोलती बन्द कर दी, जिससे फिर उन्हें अनर्गल आलाप करने का हौसला ही न हुआ।

हाँ, तो सबसे पहले सभापतिजी के आदेशानुसार प्रार्थना-पन्थी कवि ककजी ने अपनी कविता सुनानी शुरू की। आपके खड़े होते ही परों की फड़ाफड़ और तुण्डों की तड़ातड़ से गगन-मण्डल गूँज उठा। आपने आँखें मींच और गला भींचकर नीचे लिखे पद्यों का पाठ प्रारम्भ किया—

अखिलेश, सर्वेश, प्रजेश, पालकम्,
विश्वेश, कुल्लेश, कलेश घालकम्।
मोटर, घड़ी, इञ्जन आदि चालकम्,
विपत्ति, सकष्ट, विकष्ट टालकम्॥

× × × ×

रघुराज व्रजराज गणेश गौरी।
श्री

यहाँ सभापति श्रीगरुड़देवजी ने कवि को रोककर कहा—

"महाशय ! आप अपनी कविताएँ सुनाते हैं या 'विष्णु-सहस्रनाम' का पाठ करते हैं ? काव्य कानन में किलोल करने आये हैं या साम्प्रदायिकता की सड़क पर सपाटे भरने चले हैं ?" इसपर कवि ककजी अप्रसन्न हो गये और क्रुद्ध होकर कहने लगे—"जब तक मेरी 'प्रार्थना-पञ्चशती' समाप्त न हो जायगी, तब तक आगे न बढ़ूँगा ।" अस्तु, सभापतिजी के आदेशानुसार आपको बैठ जाना पड़ा।

कवि ककजी के प्रस्थान करते ही रसराज-रसिक केकी कविजी की कुनमुलाहट प्रारम्भ हुई। आपकी अदा निराली थी। कभी नाक पर हाथ रखते थे, कभी कर से कमर टटोलते थे। कभी लचकते थे, कभी मचकते थे। कभी फुदकते थे, कभी कुदकते थे। कभी भृकुटी के भाले चलाते थे, कभी कटाक्ष का कारतूस छोड़ते थे। आपने अपने रंग में अद्भुत आलाप करते हुए कहा—

कामिनी कबूतरी के कलित कलेवर को,
देख देख पछियों के पख झड़ जाते हैं।
श्वेत बक वृन्द की तो बात ही न पूछो कुछ,
काले काले कौए भी पिछाड़ी पड़ जाते हैं॥
बहुत उलूक खोजते हैं रात भर उसे,
गिद्ध 'धृष्टनायक' की भाँति अड़ जाते हैं।
आँख नाक चोंच पख पग प्रतियोगिता में-
कवियों के सारे उपमान सड़ जाते हैं॥

केकी कवि की इस शृङ्गारमयी कविता से सारे कवि-समाज में हलचल मच गई, चारों ओर से 'अश्लील'। 'अश्लील'!! की आवाजें आने लगीं। सैकडो कबूतरियाँ कवियों को कोसती हुई उडञ्च हो गईं। शोक! महाशोक!! "देवियो का ऐसा निरादर! इतना अपमान!! बन्द करो इस कुत्सित कवि-सम्मेलन को, रोको ऐसी गन्दी गढन्त को, मत बकने दो इस प्रकार की बेजोड बातें"— यही चर्चा सब ओर से सुनाई पड रही थी।

बडी कठिनाई से प्रेसिडेंट मिस्टर गरुडदेव ने शान्ति स्थापित की, और बडे बलपूर्वक कहा—"आगे से ऐसी बेहूदी और अश्लील कविताएँ कोई न सुनावे। हाल ही में इस प्रकार के असद्व्यवहार से श्रीमती कपोत-कान्ताओ को मर्मान्तक वेदना पहुँची है, जिससे हमे भी बडा दु ख है, और होना ही चाहिए। आशा है, आगे ऐसा स्वेच्छाचार न होगा।"

इसके पश्चात् धर्मध्वजी कवि बगुलाभक्तजी उठे। आपके शब्द-शब्द में साम्प्रदायिकता की सनक और कट्टरता की कडक दिखाई देती थी। सबसे प्रथम आपने डबडबाती हुई आँखों और गिड-गिडाती हुई वाणी से धर्मप्राण श्रोताओं से अपील करते हुए नीचे लिखी कविता पढी—

छूत-छात छोडना न भूल करके भी भाई,
पतितों, अछूतो को न उठने-उठाने दो।
विधवा विवाह करना है घोर पाप इसे,
कर्मवीर! कभी कल्पना में भी न आने दो॥

विछुड़े हुओं को अपनाना नीचता है निरी,
ऐसी अवनति का न हुल्लड़ मचाने दो।
धर्म को बिसारकर जाति को जिलाओ मत,
कल्ह मरती हो उसे आज मर जाने दो॥

वृद्ध वशिष्ठ बगुलाभक्तजी की कविता से सभा-मण्डप में हर्ष-विषाद का तुमुल युद्ध छिड़ गया। सुधारक-दल का कोप कोदण्ड तन गया, किन्तु कट्टर पन्थियों ने खुशी के नगाड़े पीटने शुरू किये। सुधार और बिगाड़ के बीच खूब 'कुडुमधूँ' हुई। चोचों की चेंचें और परों की फड़फड़ाहट ने विश्रान्त वायु मण्डल विलोड़ित कर दिया। गरुडदेव फिर उठे और अपने भाषण के आकर्षण से, येन केन प्रकारेण, बड़ी कठिनतापूर्वक शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुए।

थोड़ी देर बाद सुधारक दल के कवियो ने फिर राम-रौला मचाया और सभापतिजी से बड़े आग्रहपूर्वक कहा—"अब की बार सुधारों के आधार और उन्नति के अवतार प्रसिद्ध समाज-संशोधक कविवर काककिशोरजी को कविता पढ़ने का अवसर दिया जाय।" 'अवश्य दिया जाय', 'जरूर दिया जाय', 'फ़ौरन दिया जाय', 'जी खोलकर दिया जाय', 'क्यों न दिया जाय ?' की आवेशपूर्ण ऊँची आवाजों ने गरुडगोविन्दजी को मजबूर कर दिया, और उनकी आज्ञा से कविवर काककिशोरजी नेकविता सुनानी शुरू की—

छूत-छात का भूत भगाकर, सबके सँग खा लेंगे हम।
उन्नति की घुड़दौड़ मची है, पीछे नहीं रहेंगे हम॥
विधवाओं के ब्याह करेंगे, बिछुड़ों को अपनावेंगे।
जात-पाँत का तन्तु तोड़कर, एक भाव दरसावेंगे॥

"बैठ जाइये! बैठ जाइये!! विश्व विनाशक विषैले वायु से इस विशुद्ध वातावरण को विपाक्त न बनाइये, बैठ जाइये! इन तरक्की के तरानों को सुनकर कानों के परदे फटे जाते हैं, हिम्मतदारों के हौसले घटे जाते हैं, धर्मप्राणों के पर कटे जाते हैं, बैठ जाइये!!' निदान कट्टर कवियों की 'काँव-काँव' ने काक कवि का कचूमर निकाल दिया! कविता की कमर तोड़ दी!! फसाहत की हँडिया फोड़ दी!!! विरोध का वेडौल बवडर देखकर बेचारे काक कवि अपना-सा मुँह लेकर अवाक् बैठ गये।

सभापति श्रीगरुड़देवजी बोले—महाशयो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आप लोग कमनीय काव्य-कानन को छोड़कर सम्प्रदायवाद के बीहड़ वन में न भटकिये, साहित्य सलाप त्यागकर मत पन्थों से न अटकिये। इससे सभा में अत्यन्त असन्तोष और असीम असद्भाव उत्पन्न होता है। समाज-सुधार का स्थान यह नहीं है, उसके लिए आपको संशोधक सस्थाओं से सहायता प्राप्त करनी होगी। आशा है, आगे जो कविजन अपनी कविताएँ सुनावेंगे, उनमें ऐसी वाहियात बातें न आने पावेंगी।

तदनन्तर सभापतिजी के आदेशानुसार साँग-सनेही कविवर

कुलगजी खड़े हुए। आपने कड़ाके की आवाज में झड़ाके से अपना अद्भुत आलाप आरम्भ किया—

बड़ों की बात बड़ी है, घड़े में पड़ी घड़ी है।
है ऊदल कहा बिचारो, भयो जो आगे ठारो॥
न देखो रूप हमारो—
और मारदेहु, मर जाहि ताहि; डर जाहि न हिम्मत हारो—
धिनाधिन् ताकू थेई था।

कुलग कवि की करारी कविता सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया! उपहार में पैंजनियों के पुलन्दे पड़ने लगे, 'वाह-वाह' की धूम मच गई। 'वन्स मोर' का शोर होने लगा। एक-एक पंक्ति अनेक बार सुनी जाने लगी। सभापतिजी सोचने लगे, कहीं इस घोर वीर रस की कविता से उत्तेजित होकर कोमल काय कवि-कुमार आपस ही में सिर-फुटौअल न कर डालें। अतएव आपने कुलग कवि को अधवर ही में बैठा दिया, जिससे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ उनकी क्रान्तिकारिणी कलित कविता सुनने के लिए मुँह बाये रह गये।

इसके बाद 'पर-उपदेश कुशल' कवि कारण्डवजी अपनी कविता कौमुदी की अपूर्व छटा छिटकाने के लिए खड़े हुए। आप बहुत देर से व्याकुल बैल की तरह रस्से तुड़ा रहे थे। आज्ञा किसी अन्य कवि को दी जाती थी, उठ आप खड़े होते थे। ख़ैर, अब की बार राम राम करके आपका अवसर आ ही गया। कारण्डवजी

ने करताल कर में लेकर मूँछें मरोडते, आँखे सिकोडते और तान तोडते हुए, साफे को सम्हालकर, ऊँची आवाज से, नीचे लिखी कविता कथकर सुनाई—

धरम के कारणें जी, भाइयो ! तन-मन-धन सब दे दो ।
रच्छा करो धरम की धुन ते, धरम बडो है भाई ।
धरम के कारन धरमदत्त ने देखो जान गँवाई ॥
धरम के कारणें जी
धरम-धरम की धूम मचाओ, धरम धुजा फहराओ ।
धरम ओढ लो, धरम बिछा लो, धरमी सब बन जाओ ॥
धरम के कारणें जी, धरम के कारणें जी—
धरम के कारणें जी, भाइयो ! तन मन धन सब दे दो ।

कवि कारण्डवजी अभी अपनी भूरि भाव भरित कविता की दो-तीन कडियाँ ही पढने पाये थे कि लोग सर से साफ़ा बाँध, मोटा सोटा ले, गले में गुलूबन्द लपेटकर, धर्म पर बलिदान होने को आ खड़े हुए। 'जीवन दान', 'जीवन-दान' की आवाजें आने लगीं, धन्य-धन्य की धूम मच गई । सभापतिजी ने भी कारण्डवजी की चोंच चूमकर स्पष्ट शब्दों में कहा—"भाई, बस, इस आधुनिक युग में आप ही एक कामयाब कवि हैं। विराजिये, इस समय शीघ्रता है । आपकी 'पद्य-पढन्त' के लिए तो पूरे पाँच घटे दिये जायँ, तब कहीं श्रोतृ-समुदाय की सतृप्ति हो। ओहो ! आपकी कविता क्या है, 'फायर ब्रिगेड' का इञ्जन या तूफ़ान ट्रेन का भोंपू है।

धर्म, जिसपर जगत् स्थिर है, उसके आप जैसे परम प्रवीण प्रचारक धन्य हैं।"

इतने कवियों की कविताएँ सुनी जाने के बाद 'टकापथ-प्रवर्तक' कविवर कुक्कुटराज काव्य-कानन मे कूदे। आपके 'कुकडूँकूँ' करते ही जनता ने हर्ष-ध्वनि की, और उत्सुकता के साथ वह उनकी ओर देखने लगी। कुक्कुट कविजी 'बहर-ए-तवील' में बलन्द बाँग देते हुए बोले—

वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।
लोगों की बातों में हरगिज़ न आओ,
खद्दर न पहनो, न जेलों में जाओ,
है चुंगी-चुनाव चलो कल को,
वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।
बढ-चढके लाला ने दावत खिलाई,
कोठी, हवेली, दुकानें बनाई।
सीधे हैं, जानें न छल-बल को,
वोट दे दो रे! भाई, भिखारीमल को।

अहा! कुक्कुट कवि की इस परोपकार वृत्ति पर सब कवियो ने साधुवाद की सिल सरकानी शुरू की, 'महरवा' की मटकिया फोड दी और 'वाह-वाह' की बाँह तोड दी। धन्य हैं, ऐसे अशरण-शरण कविराज! देखिये न, सेठजी के लिये आपके दराज़ दिल दालान में कैसे-कैसे प्रेम के पीपे भरे पडे हैं। वाह! वाह!! खूब!!!

इसके अनन्तर सभापतिजी ने कविरत्न क्रौष्चजी से कविता सुनाने को कहा। परन्तु वह बोले—"जब तक मेरे लिये आनन्द-पूर्वक आसीन होने को विशुद्ध व्यास-गद्दी न दी जायगी, तब तक मैं अपनी कथा कदापि नहीं सुना सकता। हाँ, हारमोनियम और तबले की भी व्यवस्था करनी होगी।" सभापतिजी ने बात की बात में सब समुचित प्रबन्ध कर दिया। तब कविजी ने ऊँची आवाज़ से नीचे लिखी कविता गाकर सुनाई—

तब बोले साधु सुबुध, सुनो सभी धर ध्यान।
कथा आज की का विषय, है अध्यातम ज्ञान॥

संसार दुखों का सागर है, आओ, मिल-जुल सब स्वर्ग चलें।
सानन्द रहें, नन्दन-वन में, लखि लखि हमको सब हाथ मलें॥
हम धर्म ध्वजा की धज्जी हैं, उपकार-'कार' के 'टायर' हैं।
कविता-कुर्सी के पाए हैं, सारंगी के सब 'वायर' हैं॥
सब उठो, बाँध लो बस बिस्तर, उस अमरपुरी के जाने को।
तुलसी, केशव और सूर जहाँ, आवेंगे हाथ मिलाने को॥

क्रौष्च कवि की कविता सुनकर लोग मारे क्रोध के काँपने लगे। "आया कहीं का कठमुल्ला! हमें स्वर्ग ले जाना चाहता है। अरे, पहले इस दुनिया का आया-गया तो देख लें, यहाँ तो विजय का बैण्ड बजा दें, तब कहीं स्वर्ग नरक का नम्बर आवेगा। धिक्कार! धिक्कार!! ऐसी कातिल कविताओं की ज़रूरत नहीं है। सभापतिजी, बन्द कीजिये। इस वैराग्य के विषैले विषधर को बिल में

ही खिलखिलाने दीजिये। उपरामता के उजबक उल्लू को प्रतिभा के प्रकाश में न आने दीजिये।"

बूढ़े सभापतिजी को क्रौंच कवि की कथा में बड़ा आनन्द आया। आपने बार-बार चोंच चलाई और गरदन हिलाई। परन्तु जनता के वैराग्य विरोधी होने के कारण क्रौंचजी को मुख मढ़ी पर मजबूरन १४४ लीवर का ताला ठोंक देना पड़ा।

इस समय सभापतिजी ने कहा—"महाशयो, वक्त अधिक हो गया है, इसलिए कविवर कोकिलकुमार और कुल्लूक कविराज इन दो व्यक्तियों को अपनी-अपनी कविताएँ सुनाने का और अवसर दिया जायगा। बस, फिर पदक-पुरस्कार की सूचना देकर सम्मेलन समाप्त हो जायगा। अब 'प्रतिबिम्ब पथी' काव्य कानन केसरी कवि कोकिलकुमारजी अपनी कविता सुनावें और अपने काव्य कल्पतरु की छबीली छाया से सारे सभ्य समाज को सुख पहुँचावें।" कोकिलकुमारजी ने अपनी निगूढ़तम रुचिर रचना को सुनाते-सुनाते, सब लोगों को अज्ञेयवाद वारिधि मे डुबकी लगाने का आनन्द प्राप्त कराया। कोकिलकुमारजी ने अप टु-डेट फैशन की फबीली फसाहत के फन्दे मे फँसकर नीचे लिखी अलौकिक कविता पढ़ी—

विरद वाद्य मृदु मन्द अचलता के दृगता अञ्चल में—
सुस्मित मत विस्मृत बाला के अनुनय अन्तस्तल में—

अभिधा की अनन्त आभा में सविधा के साधन मे—
विभावरी, आभरी, अनिलभा के उद्योत आनन में—

× × ×

सुरति सदय सन्दर्भ सुसंयत नय नवधा नागर में—
विश्व विमोहन विपुल व्यथा के प्रभुता पाशु पगर मे—
वरद विभा के वक्षस्थल में मृग-मरीचिका पट पर—
तरुणी के घटना घूँघट पर तरंगिणी के तट पर—

× × ×

सौख्य सुधामय मनस्विता के मानहीन मानस मे—
भौतिक तारतम्य सत्ता के पुण्य प्रेम पारस में—
प्रवर्तिता प्राञ्जलि नलिनी के नव नीरव गायन में—
सभ्य, सुरम्य, गम्य कानन मे प्रतिभापूर्ण पवन में—

कवि कोकिलकुमार की दार्शनिकता देखकर सारे सभा
दंग रह गये, सब लोग अपनी अडियल अक्ल को धिक्कारते हु
उनकी पुण्य पक्तियों की प्रशसा करने लगे। 'धन्यवाद' के धुँग
और 'वाह-वाह' के वघार से सारा समाज सौरभित हो उठा।

सभापति श्रीगरुडदेवजी तो इस कविता के परम दार्शनि
तत्त्व को समझने के लिए समाधि लगा गये, परन्तु तो भी
नितान्त निगूढ़ 'रहस्य' उनके महा मस्तिष्क में न आया। य
तक कि उनकी प्रदीप्त प्रतिभा पर उसके आध्यात्मिक अर्थ
'छाया' भी न पड़ी। अन्त में आप निराशावाद के वायु में वह

आगे बढ़े और 'खैर' कहकर श्रीकुल्लूक कवि से पद्य पाठ के लिए प्रार्थना की।

कुल्लूक कविजी अपनी क़लम कटारी और स्वच्छन्दता की आरी लेकर कविता-कामिनी के कलित कलेवर की ओर झपटे। वह बिचारी बलात्कार से बचने के लिये त्राहि! त्राहि!! करने और बिना आई मरने लगी। करुणा का सागर उमड़ उठा और दयालुओं का दिल घुमड़ उठा। अस्तु, सबसे प्रथम कविवर कुल्लूकजी ने जनता को नीचे लिखा स्वच्छन्द छन्द सुनाकर दोनों हाथों से 'वाह-वाह' बटोरनी शुरू की, आप अपनी अद्भुत शान में बोले—

खट्वा!

ओहो! चतुष्पदी, निष्पदी तथा—
निर्भ्रान्त, अलक्षिता,—एवम् सापेक्ष सत्ता, सुरम्या—
महत्त्वमय—'मत्कुण' सेविता—
'तक्षा' एवम्—
रथकार शयनाधिकार सयुक्ता
सम्पृक्ता—सुकीर्तिता!
सुधीन्द्र, 'रज्जु'—'रसरी'!
रता—नता, एवम् 'अवनता'!!!

कुल्लूक कवि की वदन-बाँबी से क्रान्तिकारिणी कविता-काकोदरी के निकलते ही सारे कवि समाज में आनन्द की

आँधी आ गई। प्रसन्नता का पुल टूट पड़ा। साधुवादों का पज़ावा लग गया। "वाह! कुल्लूकजी, क्या कहने हैं! आपने तो छंद-छैला की छाती में छुरी भोंक दी, पिंगल के पिटारे पर पत्थर पटक दिये, अलकार अलबेले की अँतड़ियाँ निकाल लीं, रस में राख मिला दी और भावों को भट्टी में भून दिया।"

बेंडा ऊधम मचा, पार्टीबन्दी के पटाखे और गुट्टबाजी के गोले छूटने लगे। वाग्बाणों की वर्षा तथा विरोध के बवंडर ने नाक में दम कर दिया।

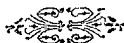
सभापति श्रीगरुडदेवजी इस काव्य विप्लव को देखकर दंग रह गये। "कुल्लूक कवि की कविता हुई या विद्रोह की बारूद जल उठी! इसे कवि-सम्मेलन कहें या 'अनारकी' का अड्डा? सहृदयता है या संगदिली? शान्त! शान्त!! मित्रो, शान्त! सज्जनो, शान्त!—देखो, कवि-सम्मेलन में कविता-कामिनी पर अत्याचार न करो, इस अनघा अबला को अपने आवेश-पूर्ण कोप-कुल्हाडे का दुर्लक्ष्य न बनाओ। ठहरो, सुनो। मैं अपना अन्तिम भाषण स्थगित कर पदक-पुरस्कार की घोषणा करता हूँ—

"कविराज कङ्कदेव, कविरत्न क्रौञ्च तथा कविवर कारण्डवजी, इन तीन सज्जनों की कविता सर्वोत्तम रही, इन्हें रत्नजटित हारों की लड़ियाँ तथा स्वर्णमय पैंजनियाँ प्रदान की जावेंगी। अब सब को धन्यवाद देकर सभा विसर्जित होती है।"

सभापतिजी की उपहार-घोषणा सुनते ही चारों ओर से "और हम ?", "और हम ?" का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। इतने कवियों में से केवल तीन ! ऐसा अत्याचार ! इतना अन्धेर !! यह ज़ुल्म !!! पकड़ लो पक्षपाती प्रेसिडेंट को, मारो मनहूस को, फोड़ दो खोपड़ी, तोड़ दो तोमड़ी ! आया कहीं का साहित्य-सिरकटा ! देखो, भागा, भागा, दुम दबाकर भागा, मुँह छिपाकर निकला,—पकड़ो—दौड़ो, निकल न जाय, उड़ न जाय, कचूमर निकाल दो, क्या हमने कविताएँ नहीं सुनाईं ? हमने दिमाग का सेरों खून नहीं खर्च किया ? क्या हम 'कवि' नहीं हैं ? हमको पुरस्कार क्यों नहीं ? मारो, मारो, देखना कहीं भाग न जाय। भागा, पकड़ो, पकड़ो !"

निदान इस समय कवि-सम्मेलन में ऐसा धूम धड़ाका हुआ, ऐसा शोर-सनाका मचा, इतना तूफ़ान एन्बेतमीजी उठा कि अपने राम की निद्रा टूट गई, सारा स्वप्नमय साहित्य-संसार नष्ट हो गया। अदृश्य जीवन के छायावाद के बदले दृश्यमान जगत् का जड़वाद दिखाई देने लगा। कवि-कारण्डवों की कल्पना कुरंगी की कुलाँचों के स्थान पर दुरंगी दुनिया सामने आ गई। उठा, शौच-बाधा से निवृत्त हुआ, कलेवा किया और अपने काम में लग गया।

—हरिशंकर शर्मा



अजन्ता का कलामंडप

यदि कोई फ्रान्स-निवासी 'लुव्र' के चित्रालय की बात नहीं जानता या कोई अँगरेज लदन की 'नेशनल गैलरी' से अपरिचित होता है, तो वह अपने समाज में सस्कार हीन गिना जाता है, परन्तु इसे भारत का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि भारतवासी कला और कलाधामों की चर्चा करना केवल निठल्ले, बेकार और आराम-तलब मनुष्यों का ही काम समझ बैठे हैं।

सम्पूर्ण संसार के तिहाई भाग से भी अधिक स्थान में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ था। उसने मानव जीवन में जिन क्रान्तियों, जिन प्रभावों और जिन सस्कारो का प्रचार किया था, उनका प्रमाण देनेवाले जो चित्र, मूर्ति या कलामदिर आज एशिया में पाये जाते हैं, उन्हे ससार के विद्वान् एक अमूल्य निधि मानत हैं। मानव इतिहास में जब-जब मनुष्य के हृदय और मन ने पूर्णता प्राप्त की है, तब तब कला पर उसका अमिट प्रभाव पडे बिना नहीं रह सका। इतिहास या जीवन की कोई भी घटना जब उच्च कोटि की कला के रूप में प्रकट होती है, तभी उसके महत्त्व का वास्तविक मूल्य निर्धारित होता है।

इस समय हमारी यह साधारण धारणा हो गई है कि चित्र-कला या सगीत के बिना मनुष्य का काम चल सकता है। इनकी कमी इस समय किसी को नहीं खटकती, किन्तु आज से केवल दो ही सौ वर्ष पहले लोगों में हजारों वर्ष की परम्परा से कुछ ऐसे भाव चले आ रहे थे, जिनसे वे सुन्दर गृह निर्माण, सुन्दर वस्त्र तथा अन्यान्य सामग्रियो या उत्सवों की शोभा के लिये बहुत ही यत्न और व्यय करते थे। उन्होंने भारत की आत्मा को प्रत्येक आकार, प्रत्येक रूप और प्रत्येक व्यवहार में प्रकट किया था।

धर्म और खान पान में विभिन्नता होने पर भी एशिया के सभी देशों में यह कला प्रेम समान रूप से व्याप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न भिन्न कला कृतियो की छान बीन करनेवाले विद्वानों की दृढ धारणा है कि उन सबों के मूल मे कला की एक ही धारा बहती है, और उस धारा का उद्गम और परिपोषण अधिकाश में भारत में ही हुआ था।

ससार के महान् विद्वान् और प्राच्य अन्वेषक सर ऑरेल-स्टीन ने हाल में तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान की मरुभूमि में दबे हुए बौद्धधर्म के जो चित्र और प्रतिमाएँ खोद निकाली हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि उनके प्रचारक और शिक्षागुरु भारत से ही शिक्षा ग्रहण करके निकले थे। जापान, चीन, जावा, समात्रा, चम्पा, श्याम और ब्रह्मदेश की कला में भी भारत की केन्द्र रेखा स्पष्ट दिखाई देती है।

अब यह सभी स्वीकार करने लगे हैं कि समस्त एशिया के

इस कलाचक्र की धुरी अजन्ता की गुफाएँ हैं। अजन्ता के इन कलामंडपों की कला इतनी अपूर्व, सम्पूर्ण और परिपक्व है कि यदि हम उसे भारतीय कलाओं की गुरुपीठ कहे, तो जरा भी अत्युक्ति न होगी।

अजन्ता के कलामडपों में कला के अवतरित होने के पहले किसने उसका आरम्भ किया था, कितने दिनों से वे व्यवहृत हो रहे थे और किस प्रकार उनका उत्तरोत्तर विकास हुआ था—इन सब बातो के जानने के साधन प्राय दुर्लभ हो गये हैं। कहते हैं ब्रह्मा जब सृष्टि रचना करने बैठते थे, तब उनके लिये कोई भी चीज असाध्य न रह जाती थी, ऐसा मालूम होता है कि मानो वैसी ही शक्ति लेकर अजन्ता के कलावीरो ने शिल्प और चित्रों का निर्माण किया है।

अजन्ता की कलाएँ ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों से लेकर लगभग छठी या आठवीं शताब्दी तक विकसित होती रही हैं। मालवे की 'बाघ', मद्रास-प्रात की 'सीतानिवास' और लका की 'श्रीगिरि' की गुफाओं मे आज भी कुछ ऐसे चित्र मौजूद हैं, जो अजन्ता के प्रत्यक्ष अनुकरण मालूम होते हैं, उनपर अजन्ता का प्रताप प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। परन्तु इससे भी आगे बढ़कर जब हम पहली या दूसरी शताब्दी के तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, जापान आदि के चित्र देखते हैं, और हमे उनपर अजन्ता की वैसी ही प्रभावपूर्ण छाप पडी हुई दिखाई देती है, तब हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं रहता और हम सोचने लगते हैं कि

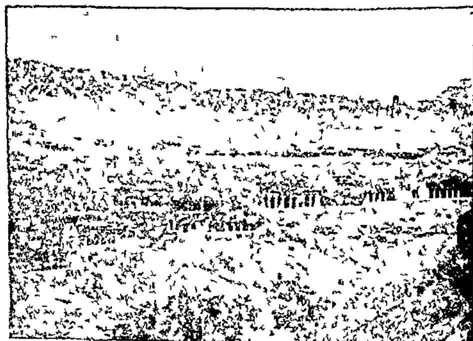
अजन्ता की कला ने कहाँ-कहाँ तक अपना प्रभाव डाला था ! अजन्ता का नाम भारतवासियों तक पहुँचने के पहले उसने न जाने कितने यूरोपियनों को चकित कर दिया था, और आज उन्हीं के परिश्रम से न केवल भारत को ही, बल्कि सम्पूर्ण एशिया को अपने इस अपूर्व उत्तराधिकार के लिये गर्व करने का अवसर प्राप्त हुआ है।

अजन्ता कहाँ है ?

बम्बई मे रेल में सवार हो एक रात सफ़र कीजिये और दूसरे दिन सुबह जलगाँव के पहले पाचोरा स्टेशन पर उतर पडिये। वहाँ से छोटी लाइन की गाडी में बैठिये। वह दस बजे पहूर नामक ग्राम को पहुँचा देगी। वहाँ से सात मील की दूरी पर निज़ाम की सीमा मे फरदापुर नामक गाँव है। उसी के निकट ऊसर पहाडियों में अजन्ता क कलामडप छिपे पडे हैं।

उस वृक्षहीन पथरीले स्थान को देखकर किसी यात्री को इस बात का गुमान भी नही होता कि यहाँ ससार की अप्रतिम कला-मूर्तियाँ छिपी हुई हैं। फ़रदापुर गाँव के अधिकाश निवासी मुसलमान हैं। वहाँ का टूटा फूटा क़िला और बेगमसराय नामक बडा-सा मुसाफ़िरख़ाना सबसे पहले नजर आता है। उन्हें सम्राट् औरगजेब ने बनवाया था। इस समय तो इस गाँव में शायद ही तीन चार सौ मनुष्यों की बस्ती होगी। वे कपास आदि की खेती करते हैं और गाडियाँ चलाते हैं। सडक की एक ओर बम्बई के

मूलजी जेठा की जिनिंग फैक्टरी और दूसरी ओर डाक बँगला तथा मुसाफिरखाना है। अजन्ता-गुफाओं के रक्षक अधिकारी



पहाड़ के गर्भ में चन्द्राकार कटी हुई अजन्ता की गुफाओं का दूर से दृश्य

(क्यूरेटर) भी वहीं रहते हैं। उन्हीं के निरीक्षण में निज़ाम-स्टेट का बड़ा 'गेस्ट हाउस' है, जिसमें रहने के लिये राज्य के अधिकारियों से अनुमति प्राप्त करनी होती है।

फरदापुर से चार मील की दूरी पर पहाड़ियों में बाघोरा नदी बहती है। अजन्ता जाते समय एक बार यह नदी पार करनी पड़ती है। इसके किनारे-किनारे ही घूमता हुआ रास्ता है। नदी में सर्पाकार इतने घुमाव हैं कि जब तक आप एकदम पास न पहुँच जायँ, तब तक आपको गुफाओं का खयाल भी न आयगा।

सुना है कि अब एकदम गुफाओं तक मोटर जाती है, वरना वैसे भी पैदल जाने में बड़ा आनन्द आता है। यदि भूलकर कहीं फरदापुर के इक्के में बैठ गये, तो समझ लीजिये कि हड्डियों की पूरी मरम्मत हो जायगी।

हम लोगों ने अजन्ता के चाहे जितने छपे हुए चित्र देखे हों, उसके सम्बन्ध में चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ी हों, फिर भी पहले-पहल वहाँ का जो दृश्य दिखाई देता है, वह हमारी कल्पना से एकदम नया, गम्भीर और विशेष भव्य प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। अन्तिम घुमाव समाप्त होते ही प्राय तीन सौ फुट ऊँचा, वर्तुलाकार दीवार-सा, एक सीधा टीला पहाड़ से निकला हुआ दिखाई देता है। उसे देखकर नदी में खड़े हुए मनुष्य को ऐसा ही मालूम होता है मानो वह कोई गगनचुम्बी महान् प्रासाद खड़ा है। इस टीले के बीचोंबीच बारहदरियों की-सी एक कतार बनी दिखाई देती है। उसे देखकर पहले मन में स्वभावत ही यह प्रश्न उठता है कि नदी से इतनी ऊँचाई पर किस तरह पहुँचा जाय। इतने में ही राज्य की ओर से प्रस्तुत आधुनिक ढंग की सीढ़ियों का सिलसिला नजर आता है और पथिक की चिन्ता दूर हो जाती है।

अजन्ता का प्राचीन प्रवेश मार्ग दूसरा था। इस समय जिसे १७ नम्बर की गुफा कहते हैं, उसके पास अभी भी पुराने मार्ग की सीढ़ियों के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। यह मार्ग गुफा के पास जिस स्थान में पहुँचता है, उसके दोनों ओर दो बड़े बड़े हाथी बने

हुए हैं। उनमे से एक तो प्राय टूट-फूट गया है। यहाँ से आगे बढकर बाई ओर मुडने के पहले सामने एक छोटी-सी ड्योढी दिखाई देती है, जिसमें द्वारपाल के सदृश नागराज की एक बृहत् और सुन्दर मूर्ति कटी हुई है। अजन्ता के चित्रों की भाँति अजन्ता की शिल्प-कृतियाँ भी अनुपम हैं, और उनमें से यह मूर्ति भी एक है, जो भुलाई नहीं जा सकती। यहाँ तक की चढाई बहुत ही सीधी होने के कारण चढनेवाले को कुछ थकावट मालूम होती है, परन्तु इसके बाद ही जो अनुपम दृश्य दिखाई देते हैं, उनसे उसकी सारी थकावट दूर हो जाती है। वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह कितनी उच्च कोटि की कला देखने जा रहा है।

यहाँ से ज़रा आगे बढते ही १६ नबर की गुफा का, जो सबसे बडी गिनी जाती है, प्रागण मिलता है। यहाँ से नीचे की ओर देखने पर पहाड से बल खाकर निकलती हुई नदी स्पष्ट दिखाई देती है। यह गुफा समूचे मंडप-समूह के मध्य में है, अत वहाँ से दोनों ओर का घुमाव दूर तक दिखाई देता है, और दोनों ओर की करीब-करीब सभी गुफाएँ नजर आती हैं। ऊँचा-नीचा होने पर भी यह मार्ग एक ही सीध में होने के कारण सभी गुफाओं तक पहुँचना सुगम मालूम पडता है।

चद्राकार टीलो के पेट में कटी हुई ये गुफाएँ प्रवेश-द्वार से लेकर एकदम अत तक मनुष्य की उपासना, धैर्य, प्रेम, भक्ति और हस्त-कौशल का ससार-भर मे आश्चर्यजनक उदाहरण हैं।

गुफाएँ खोदने की कला अजन्ता में पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। समस्त रचना देखने पर मालूम होता है कि यहाँ के शिल्प, चित्र, स्थापत्य, आदि में एक ही भावना सुसबद्ध शृङ्खला के रूप में प्रकट हुई है। इसमें इतनी सपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है कि ससार के किसी दूसरे स्थान से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। यद्यपि सभी बौद्ध गुफाओं के निर्माताओं ने प्राकृतिक सौन्दर्य, एकान्त और बडे जन-पथ पर ध्यान रखा है, फिर भी सौन्दर्य और एकान्त के लिये तो केवल अजन्ता को ही श्रेष्ठ पद दिया जा सकता है। नीचे नदी बहती है, उसमें बडी-बडी पत्थर की शिलाएँ हैं। पानी उनसे टकराता हुआ गुफा के ठीक नीचे ही एक गढे में इकट्ठा होता है, जो सप्तकुड के नाम से पुकारा जाता है। बौद्ध भिक्षुक जिस समय नीचे की झाडी से वहाँ तक आते-जाते होंगे, उस समय का दृश्य और अनुभव निस्सन्देह अवर्णनीय होगा। इस समय भी उस घाटी में चारों ओर पारिजात पुष्पों के वन दिखाई देते हैं। साथ ही यहाँ और भी अनेक प्रकार के पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं, इस लिए यहाँ पक्षियों का एक विचित्र मेला सा लग जाता है, और ऐसे-ऐसे चित्र-विचित्र पक्षी दिखाई देते हैं, जो और कहीं नहीं दिखाई देते। सौन्दर्य का आनन्द लेने के लिये अक्टूबर से दिसम्बर तक का समय यहाँ के लिये उपयुक्त माना जाता है।

१६ और १७ नबर की गुफाओं से नीचे की समूची घाटी स्पष्ट दिखाई देती है। इन दोनों गुफाओं का निर्माण-समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। न० १६ की गुफा का प्रवेश-मार्ग

करुणा आदि के चित्र हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित दिखाई देते हैं। दर्शक ज्यों-ज्यों इन चित्रों पर दृष्टि डालता है, त्यों-त्यों वह अपने आस-पास की सृष्टि को भूलकर प्राचीन काल की राजसभाओं, सुन्दरियों, साधुओं और नागरिकों की स्वप्न-सृष्टि में विचरने लगता है। कहीं राजकुमार दान दे रहा है और भिक्षुक आगे-आगे दौड रहे हैं, तो कहीं अट्टालिकाओं से मुग्धनयना सुन्दरियाँ झुकी पडती हैं और उनके हाथ से पुष्पवृष्टि हो रही है। बुद्ध, यशोधरा और राहुल का बडा चित्र भी इस १६ न० की गुफा मे ही है।

अजन्ता के इन मडपों में न जाने कितने चित्रकारो ने अपनी तूलिका का कौशल दिखाया होगा, पर उन सबों के हृदय एक ही अनिर्वचनीय भाव में रँगे हुए मालूम होते हैं। सभी परम दयामय बुद्ध भगवान् के आदर्शों को दृश्य बनाने के लिये, विश्वकर्मा की तरह तूलिका द्वारा भाव और रूप की सृष्टि करते हुए दीवारों पर रात दिन मस्त होकर जुटे रहते होंगे। तब कहीं वर्षों में यह विशाल मंडप इतनी सुसम्पन्न कलासिद्धि का आदर्श बन सका होगा। दीवारों पर अंकित प्रत्येक चेहरा मनन करने का विषय बना हुआ है। एक-एक हाथ की अंगुलियों का बनाव, उसपर सुशोभित सुन्दर कडे, चमर लेकर खडी हुई टेढी कमरवाली परिचारिकाएँ, लज्जा से अवनत नेत्रोंवाली राज-महिलाएँ, विविध शस्त्रों से सुसज्जित अश्वारूढ सैनिक—ये सभी उस कलामडप के चित्रकारों की सजीव सृष्टि हैं। उन्होंने प्रत्येक बात को स्पष्ट रूप से

दिखाने के लिये एक भी रेखा, एक भी अलंकार या एक भी भाव अप्रकट नहीं रखा। चित्र देखते-देखते हम चित्रकार के जीवन पर विचार करने लगते हैं, और उसके हृदय में प्रवेश करने पर हमें मालूम होता है कि उस समय से ही मानव-हृदय प्रेम, भक्ति, वियोग और अन्त का समान रूप से ही अनुभव करता आ रहा है।

गुफाओं के भेद

अजंता की गुफाएँ दो प्रकार की हैं—एक चैत्य, दूसरे विहार। १६ नंबर की गुफा विहार मंडप है। विहार साधुओं के रहने और



१६ नं० की गुफा के दालान का दृश्य

अध्ययन करने के लिये बनाये जाते थे। चैत्य में केवल प्रार्थना या उपासना की जाती थी, इसलिये वह अधिक लंबा होता है और सामने के सिरे पर उसमें एक स्तूप रहता है। बुद्ध भगवान् के अवशेष पर जो गोलाकार समाधि बनाई जाती थी, उसे स्तूप कहते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने भर का स्थान होता

था। वहाँ से द्वार तक दोनो ओर स्तम्भों की पंक्ति रहती है। चैत्य अधिक ऊँचा होता है और उसका प्रवेश द्वार सुचारु कारीगरी से खूब सुसज्जित रहता है। अजंता की गुफाओं में १९ नंबर की गुफा अजंता का सबसे बड़ा चैत्य है। उसके द्वार देश का दृश्य बहुत ही रमणीय और अलौकिक मालूम होता है। उसके चौक



२६ नं० की गुफा (चैत्य) के खम्भों की पंक्ति और भीतरी रूप

मे दाहिनी ओर की दीवार पर नागराज का समस्त परिवार खुदा हुआ है। यह दृश्य इस प्रकार के शिल्प में बहुत ही उच्च कोटि का माना जाता है। चैत्य के द्वार देश की महरावों का आकार पीपल के पत्ते जैसा रहता है, इसलिये चैत्यों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं पडती ।

अजंता में चैत्य और विहार दोनों मिलाकर छोटी-बड़ी कुल २९ गुफाएँ हैं। इनमें से १, २, १६ और १७ नंबर की गुफाओं



सर्वनाश

१७ नं० की गुफा में अंकित एक चित्र में दुःखित नेत्रोंवाला यह वृद्ध राजदूत राजा के पास किसी जहाज के डूबने या युद्ध में पराजय होने का दुःखद संवाद लाया है। इसके चेहरे और हाथ की मूक रेखाएँ उसके भाव को उद्घोषित कर रही हैं। संसार में रेखांकन का यह एक बहुत उत्कृष्ट नमूना है।

के चित्र कुछ अंश में बचे हुए हैं। शेष सभी गुफाओं में कहीं किसी दीवार पर किसी का सुन्दर मुख, कहीं किसी के खंडित हाथ-पैर, तो कहीं घोड़े या हाथी पर चढ़े हुए खंडित शरीर आदि दिखाई देते हैं। उन सबों को सुरक्षित रखने के लिये निजाम-सरकार की ओर से प्रचुर व्यय कर समुचित व्यवस्था की गई है। इस काम के लिये यूरोप से एक विशेषज्ञ बुलाया गया है। उसने प्रत्येक स्थान में कीटनाशक औषधि डालकर पपड़ों को सीमेंट से जोड़ दिया है, ताकि वे ज्यों-के-त्यों लटके रहें और गिरकर नष्ट न हो जायँ। अनुमान किया जाता है कि इस व्यवस्था से बीस पचीस वर्ष तक अब कोई हानि न होगी। ४, ६ और २४ नंबर की गुफाएँ खुदाई करते-करते अधूरी रह गई है, जिससे उन दिनों की गुफा खोदने की विधि स्पष्ट मालूम होती है। खुदाई के लिये पतले धारदार औजार काम में लाये जाते थे। इन औजारों से पहले सीधी-सीधी नालियाँ-सी खोद ली जाती थीं, बाद को दो नालियों के बीच का हिस्सा गिरा दिया जाता था। खुदाई करनेवालों के पीछे कारीगरों का दूसरा दल रहता था, और वह दीवारों को चिकनी बनाकर उनपर पालिश करता जाता था।

कारीगरी तो सभी गुफाओं की जोरदार और सुन्दर है, परन्तु १ नंबर की गुफ़ा खोदनेवालों का कार्य बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होता है। अनेक विघ्न बाधा और कठिनाइयों के रहते हुए भी उन्होंने १२० फुट की सीधी गहराई किस तरह काटकर पार

की होगी, यह एक पहेली-सी मालूम होती है। उस गुफा का मुख ६५ फ़ुट चौड़ा है। सामने का मडप १४ फ़ुट चौड़ा, १९ फ़ुट ऊँचा और बारीक कारीगरी के बेलबूटों तथा स्तभ आदि से भरा हुआ है। भीतरी हिस्सा ६४ फ़ुट लबा और इतना ही चौड़ा है। उसके चारों ओर बीस स्तभ हैं और स्तभों के आस पास दालान हैं। इस मडप के अन्दर सामने की ओर १९ फ़ुट लबा एक दूसरा दालान है। वहाँ की कारीगरी बहुत ही सुन्दर है। इसी दालान के बीचोबीच गर्भ-मदिर में द्वारपालों के साथ भगवान् बुद्ध की सुन्दर मूर्ति है। बाहर से इस मूर्ति तक की दूरी १२० फ़ुट है।

इस गर्भ-मदिरवाले दालान में ही एक समूची दीवार पर भगवान् बुद्ध की तपश्चर्या और मार के आक्रमणवाला चित्र अकित है। अनेक प्रकार के प्रलोभन और भय के साधनों के साथ मार बुद्ध भगवान् को विचलित करने आया है। इसमें चित्रकार की तूलिका की अजीब करामात दिखाई देती है। प्रत्येक आकृति स्पष्ट रेखाओं में विविध अभिनय, भाव और अलकारों के साथ इस तरह अकित

स्तभ के पहलुओं की कारीगरी

की गई है कि आधुनिक चित्रकार उनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इस चित्र-मडल में बुद्ध भगवान की मूर्ति पर अलौकिक शान्ति परिलक्षित होती है। समूचा चित्र क़रीब १२ फुट ऊँचा और ८ फुट चौडा है। समझ में नहीं आता कि जिस स्थान मे केवल शाम को ही प्रकाश पहुँचता है और वह भी कुछ ही क्षणों के लिये, उस स्थान की इस दीवार पर इतनी कारुकार्य-युक्त और कलापूर्ण आकृतियाँ किस प्रकार अकित की गई होंगी। आज भी जब शाम के वक्त सूर्य की अतिम किरणें इस गुफा मे प्रवेश करती हैं, तब थोडी देर के लिये सब चित्र जगमगा उठते हैं, और दर्शक अवाक् होकर—'अद्भुत! अद्भुत!' कहने लगता है और उसका हृदय श्रद्धा से प्रणाम करने लगता है।

गुफा नं० १ और २ में सबसे अधिक चित्र सुरक्षित बचे हैं। उनमें ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जिनसे उनका समय जाना जाता है। १ नवरवाली गुफा के मंडप के दालान में एक ऐसा चित्र है, जिसमे हिन्दू राजा पुलकेशी द्वितीय की राजसभा में ईरान के राजा खुसरू परवेज़ के राजदूत भेंट अर्पण करते हुए दिखाये गये हैं। इस चित्र से ईरान और भारत का प्राचीन सबध प्रकट होता है। अधिकतर यह घटना ई० सन् ६२६ से ६२८ तक की है। इस १ नबर की गुफा की चित्रकारी अजंता की कला समृद्धि की पराकाष्ठा दिखाती है ससार के अनेक देशों की प्राचीन कला का साधन रेखाएँ हैं, किंतु अजन्ता के चित्रकार की रेखाओं में जो अनेक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे संसार की अन्य कलाओं में दिखाई

नहीं देते । यहाँ तूलिका पर चित्रकार का इतना अधिकार दिखाई देता है कि उससे जो रेखा निकलती है, वह भाव के अनुसार ही रूप धारण करती जाती है । अजन्ता की आकृतियो को देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि गोल या घन आकृतियों को रेखा द्वारा व्यक्त करने की क्रिया उनके लिये सुसाध्य हो गई थी। कहीं उभरती हुई आकृतियाँ, कहीं झूलते हुए मुक्ताहार और मुलायम वस्त्र, कहीं सुघड नासिका और मृदु उदर, तो कहीं धातु के जगमगाते हुए रत्नजडित मुकुट इत्यादि विविध चीजें देखने पर ही अजन्ता के चित्रकार के आलेखन सामर्थ्य का अदाजा लगता है। केवल रेखाओं में ही मानव-शरीर को इतनी विविधता से अकित करनेवाले चित्रकार ससार में शायद ही और कहीं पाये जायँगे। बिना कम्पन के, नि शक भाव से और छटापूर्ण अर्थभाव लक्षण आदि मे सपूर्ण चित्र अकित करनेवाला अजता का यह चित्रकार, उस युग को देखते हुए, ससार का कोई दैवी पुरुष ही मालूम होता है ।

इसी गुफा के गर्भ मदिर के पास दाहिनी ओर मडप की दीवार पर 'बोधिसत्त्व' का बडा-सा चित्र है । यह उस समय का रूपक चित्र है, जिस समय कुमार सिद्धार्थ बुद्ध-पद के लिये गृह-त्याग करते हैं । इस चित्र में मनुष्य के वास्तविक आकार से कुछ बडे आकार की, किंचित् त्रिभगीयुत, दाहिने हाथ मे नील-कमल (इन्दीवर) धारण किये, जीवन-मन्थन करते हुए सुकोमल मुख को झुकाकर खडी हुई राजेश्वर की मूर्ति समस्त ससार की कला



बोधिसत्व—यह चित्र ससार में कला का एक अनुपम उदाहरण माना जाता है

में अनुपम मानी जाती है। दीवार पर स्वाभाविकता से बहुत थोड़े में केवल सरल रेखाओं द्वारा विशाल स्कंध और सुंदर दीर्घ बाहुओं के नीचे में किंचित् छाया दिखाकर इस चित्र में बड़ी खूबी के साथ मृदुता और सुघड़ता लाई गई है। मांसल मनोहर मुखारविन्द, जो न्यारी रंगों के मिश्रण से अंकित किया गया है, चिन्तन, करुणा और मनोमंथन के भावों को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। तूलिका की एक ही रेखा खींचकर अंकित की हुई भौंहें किसी कला-पारंगत उस्तादी हाथ का परिचय कराती हैं। नासिका और होठों पर भाव दिखाने भर के लिये जो छाया दिखाई गई है, वह हमें बतलाती है कि चित्रकार अपने साधनों का बढ़िया-से बढ़िया उपयोग करना जानते थे। इस बोधिसत्त्व का मुकुट भी कारीगरी का एक उत्तम नमूना माना जाता है।

इस भाग के समस्त चित्रों में यह स्वरूप बहुत विशाल होने पर भी परम मनोरम है। इसके आस-पास की देवसृष्टि, मानव-सृष्टि और विचार निमग्न यशोधरा के चित्र पर दृष्टि डालिये, तब मालूम होता है कि चित्रकार आवेश और स्वस्थता, धीरता, त्वरा आदि सभी भाव दरसाने में एकसा ही कुशल है। इसके अतिरिक्त समस्त चित्रों का संविधान भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस चित्र के अलावा पास ही के एक दरवाजे पर प्रेममग्न यक्ष दम्पती का एक निर्दोष चित्र अंकित है। इसी मंडप की बाईं ओर की दीवार पर बुद्ध के पूर्वजन्म की चम्पेय जातक नामक कथा का काशिराज और नागराज के मिलन का भव्य चित्र है। इन सब



बोधिसत्व—यह चित्र ससार म कला का एक अनुपम उदाहरण माना जाता है

में अनुपम मानी जाती है। दीवार पर स्वाभाविकता से बहुत थोड़े में केवल सरल रेखाओं द्वारा विशाल स्कंध और सुंदर दीर्घ बाहुओं के बीच में किंचित् छाया दिखाकर इस चित्र में बड़ी खूबी के साथ मृदुता और सुघडता लाई गई है। मांसल मनोहर मुखारविन्द, जो खाकी रंगों के मिश्रण से अंकित किया गया है, चिन्तन, करुणा और मनोमंथन के भावों को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। तूलिका की एक ही रेखा खींचकर अंकित की हुई भौंहें किसी कला-पारंगत उस्तादी हाथ का परिचय कराती हैं। नासिका और होठों पर भाव दिखाने भर के लिये जो छाया दिखाई गई है, वह हमें बतलाती है कि चित्रकार अपने साधनों का बढ़िया-से बढ़िया उपयोग करना जानते थे। इस बोधिसत्त्व का मुकुट भी कारीगरी का एक उत्तम नमूना माना जाता है।

इस भाग के समस्त चित्रों में यह स्वरूप बहुत विशाल होने पर भी परम मनोरम है। इसके आस-पास की देवसृष्टि, मानव-सृष्टि और विचार निमग्न यशोधरा के चित्र पर दृष्टि डालिये, तब मालूम होता है कि चित्रकार आवेश और स्वस्थता, धीरता, त्वरा आदि सभी भाव दरसाने में एकसा ही कुशल है। इसके अतिरिक्त समस्त चित्रों का संविधान भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। इस चित्र के अलावा पास ही के एक दरवाजे पर प्रेममग्न यक्ष दम्पती का एक निर्दोष चित्र अंकित है। इसी मंडप की बाईं ओर की दीवार पर बुद्ध के पूर्वजन्म की चम्पेय जातक नामक कथा का काशिराज और नागराज [illegible] का भव्य चित्र है। इन सब



बोधिसत्व—यह चित्र संसार में कला का एक अनुपम उदाहरण माना जाता है

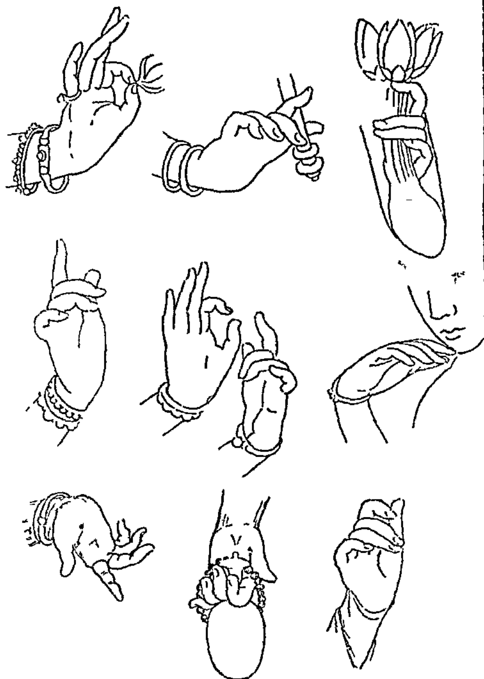
अपने पिता के दूतों को उस श्वेत हाथी का सिर ले आने के जगल भेजा। श्वेत हाथी को यह बात मालूम होने पर वह आप दूतों के सम्मुख आ उपस्थित हुआ, और अपने धात धाधा न दी। राजदूतों ने उसके दोनों दाँत निकालकर के किये, परतु उसकी वैराग्नि इसके वह दुःख से मूर्छित होकर

को कमल का फूल इतना आकर्षक प्रतीत हुआ है कि बोधिसत्त्व की मूर्ति के हाथ में या स्तंभ पर की पुतलियों के हाथ में या प्रेमी दम्पतियों के बीच में शोभा के लिये उन्होंने उसे अवश्य स्थान दिया है।

कमल के बारीक निरीक्षण और अभ्यास से चित्रकारों ने मानव-शरीर के चित्रों में भी उसका लालित्य लाने की चेष्टा की है। भारतीय शिल्प और स्थापत्य की कृतियों में यद्यपि कमल ने बहुत प्राचीन काल से ही स्थान पाया था, परन्तु चित्रों में तो अजंता ने ही उसका माहात्म्य स्वीकार कर उसमें अभिवृद्धि की है।

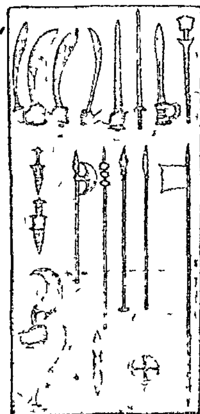
कमल की भाँति हाथी भी भारतीय शिल्प का एक प्रिय अंग है, और भारत के सिवा किसी भी दूसरे देश में उसने वास्तविक राज सम्मान प्राप्त नहीं किया। सिद्धार्थ की माता को गर्भावस्था में एक सफेद हाथी आकाश से उतरकर कुक्षि में प्रवेश करता हुआ स्वप्न में दिखाई दिया था। इस घटना के बाद से हाथी कला और साहित्य में देवकोटि का सम्मान प्राप्त करता आ रहा है। बुद्ध भगवान् के पूर्वजन्मों की जातक कथाओं में अनेक बार हाथी की कथाएँ आती हैं। छद्दन्त जातक की कथा उसका एक अद्भुत दृष्टान्त है। बोधिसत्त्व किसी जन्म में हाथी थे और उनके दो प्रिय हस्तिनियाँ थीं। उनमें से एक किसी कारणवश अपनी सौत से असंतुष्ट हो गई। उसने सिर पटककर आत्महत्या कर ली। बाद को एक राजा के यहाँ उसने जन्म ग्रहण किया। इस जन्म में भी वह अपना रोष न भूल सकी, इसलिये वयस्क होने पर

भी स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों की स्त्रियाँ पर्याप्त स्वतन्त्रता और सम्मान का उपभोग करती थीं नगर, वाटिका और वन में वे स्वेच्छापूर्वक विचरण कर सकती थीं, समाज या राजसभा में सर्वत्र उनकी उपस्थिति रहती थी। राजसभा के प्रतिहारी का काम भी चित्रों मे स्त्रियाँ ही करती हुई दिखाई देती हैं। भगवान् बुद्ध का पदानुसरण करनेवाले अजता के निर्वाण-कामी विरक्त साधु भी ससार मे स्त्रियों का तिरस्कार करते हुए नहीं दिखाई देते। नारी जाति को सृष्टि के उत्तमाग की भाँति ही सर्वत्र स्थान मिला है। चित्रकार अपने पात्रों को वाक्शक्ति देने में असमर्थ है, पर उसने स्त्री-पात्रों के चेहरों के भाव और हाथ की विविध मुद्राओं द्वारा इस कमी की अच्छी तरह से पूर्ति कर दी है। प्रणाम करते हुए हाथ, पात्र धारण किये हुई हथेली, या पखा या चमर झलती हुई अगुलियों की अगणित छटाओं का अजता मे बहुत बड़ा भडार है। यदि आप ढोल पर ताल देती हुई अगुलियाँ या करताल बजाती हुई हथेलियाँ और उनके सामने नृत्यमय स्थिति में खड़े हुए मनुष्यों को देखें तो आपको यही विचार आयगा कि अजता के चित्रकार ने एक अद्भुत युग को देखा, जाना और उपभोग किया है। अजता को देखने के बाद अनेक मनुष्य उस तरह के हाव-भाव तथा छटा को समझते और उसमें आनद प्राप्त करते हुए देखे गये हैं। अजता देखन के बाद उस युग के मनुष्यों के सामने हम लोग मानो रूखे, कठोर और जड से प्रतीव होते हैं।



अजन्ता की भीत पर उँगलियों और हाथ की विविध मुद्राएँ

शताब्दी के हैं–बहुत मिलती-जुलती है। समय का इतना पता चलने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि अजता की कला ने दो-तीन युगों का उलट फेर देखा है। उपर्युक्त ९ और १० नम्बर की गुफाओं के चित्र देखकर भी यही राय स्थिर करनी पड़ती है कि उन दिनों में भी चित्रकला की बहुत उन्नति हो चुकी थी। ये चित्र प्राथमिक दशा के प्राचीन गुफावासी मनुष्यों के चित्रों की तरह न तो खिलवाड़ ही हैं, न वे नये प्रयोगों की तरह कोरी लकीरें ही, बल्कि वे जिन लोगों में बहुत दिनों से से इसका व्यवहार होता चला आया है, उनके निपुण हाथों से अकित उच्च कोटि की कला कृतियाँ हैं। उन दिनों के साहित्य का कथन है कि बुद्ध के समय के पहले भी भारत में अनेक प्रकार की चित्रकला प्रचलित थी। उपर्युक्त बात से इस कथन की पुष्टि होती है।



अजन्ता में चित्रित उस युग के अस्त्र शस्त्र

अजता के चित्रों में काष्ठ और पाषाण-निर्मित भवनों का आलेखन भी दिखाई देता है, जिससे उन कलामडपों की रचना

इतिहास

यह कहना कुछ बेजा नहीं है कि इन कलामडपो का पूर्व इतिहास प्राय अज्ञात है। फिर चित्रों में जिन घटनाओं और कथाओ का वर्णन है, वे तो और भी पहले की हैं, इसलिये वे भी अजता का समय-निरूपण करने में विशेष सहायता नहीं करतीं।

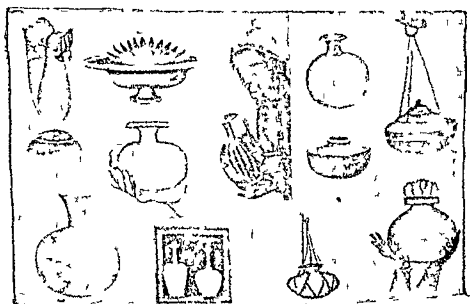
चीन से पाँचवी शताब्दी मे फाहियान और सातवीं शताब्दी में ह्युएनचाग भारत की यात्रा करने आये थे। उन्होंने इस तरह की अनेक गुफाओ के वर्णन लिखे हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त कर वे अपने साथ अनेक चित्र भी चीन ले गये थे। उन्होंने लिखा है कि उन्हे यह शिक्षा भारत के आचार्यों से प्राप्त हुई थी। ह्युएनचाग ने एक स्थान में लिखा है कि वह खुद अजता तो न जा सका था, पर उसने उसकी बडी प्रशसा सुनी थी। उसने लिखा है कि 'महाराष्ट्र का राजा पुलकेशी द्वितीय है। उसके राज्य मे पूर्व ओर के पहाडों में, नदी के मूल-देश के समीप, विहार खुदे हुए हैं, और उन विहारो की दीवारों पर तथागत के जन्मान्तरों की कथा के चित्र अकित हैं।' नि संदेह यह वर्णन अजन्ता का ही मालूम होता है।

इस बात से सभी विद्वान् सहमत हैं कि अजता की ९ और १० नंबर की गुफाएँ सबसे अधिक पुरानी हैं, क्योंकि उनकी कारीगरी भरहुत, अमरावती और साँची के शिल्प से—जो पहली

चित्रकारी हुई थी। यदि उन सबों पर काल और अत्याचारियों की कुटिल दृष्टि न पडी होती, तो आज वहाँ चित्रों का महासागर दिखाई देता। इस समय जो चित्र बचे हुए हैं, उनपर भी बहुत वार हो चुके हैं और वे धुएँ से विकृत हो गये हैं, परन्तु अब निज़ाम-सरकार के निरीक्षण मे उनकी समुचित मरहमपट्टी और उपचार हुआ करता है, जिसके लिये समस्त ससार उसका चिर-कृतज्ञ रहेगा।

अजन्ता का अस्तित्व वर्त्तमान जगत् मे सर्वप्रथम सन् १८२४ मे जनरल सर जेम्स को मालूम हुआ था। वे स्वय व्यक्तिगत रूप से वहाँ गये थे और उसका सक्षिप्त परिचय लिखकर 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' को दिया था। इसके बाद सन् १८४३ में मिस्टर फ़र्ग्यूसन ने उसका विस्तृत और हूबहू वर्णन लिखा और तब से विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सन् १८४४ में ईस्ट इडिया कपनी ने उसके चित्रों की नक़ल करा लेना स्थिर किया और मद्रास की सेना के मेजर आर० जिल को यह काम सौंपा गया, और यह काम १८५७ के गदर तक चलता रहा। करीब तीस प्रतिलिपियाँ तैयार हुई और इग्लैंड के क्रिस्टल-प्रासाद में उनकी प्रदर्शनी की गई। सन् १८६६ में आग लगने पर वे समस्त प्रतिलिपियाँ जल गई। उन चित्रों के अब ट्रेसिंग या फ़ोटोग्राफ़ भी उपलब्ध नहीं है। यदि वे भी मिलें, तो हमें बहुतसी बातें देखने को मिल सकती हैं, क्योंकि उसके बाद भी बहुतसे चित्र झर पड़े हैं या नष्ट हो गये हैं।

का समय निर्धारित करने में कुछ-कुछ सहायता मिलती है। निस्सदेह किसी समय अजन्ता की चित्र पद्धति समस्त भारतवर्ष में प्रचलित होगी, परन्तु विदेशियों के आक्रमण, आपस की फूट आदि कारणों से वह इस प्रकार नष्ट होग ई है कि आज उसके नाम का भी पता नहीं चलता। अजन्ता पहाड के गर्भ में है तथा उसके चित्र पक्की दीवारों पर अकित हैं, इसी कारण वे इतने परिमाण



अजन्ता के बरतन

में सुरक्षित रह सके हैं। इस समय इन गुफाओं का समय इस प्रकार माना जाता है—गुफा नबर ९ और १० प्राय पहली शताब्दी की, नबर १० के स्तभ करीब ३५० वर्ष बाद के, १६ और १७ नबर की गुफाएँ इसके बाद ५०० वर्ष तक की और गुफा नबर १ और २ सन् ६२६ से ६२८ ईसवी की।

अजता में इन सात-आठ सौ वर्षों में अनेक प्रकार की

प्रशंसा की, और उसी पर निज़ाम-सरकार ने उनपर पक्का क़ब्ज़ा कर प्रचुर व्यय से वहाँ सफ़ाई और थोड़ी बहुत मरम्मत कराई। निज़ाम-सरकार की ओर से गुफाओं की रक्षा के लिये एक क्यूरेटर की नियुक्ति की गई। यह पद मि० सैयद अहमद को दिया गया, जो पहले लेडी हेरिंगहम के दल में सम्मिलित थे और चित्रों की नक़लें करने में सहायता करते थे। मि० सैयद अहमद ने क्यूरेटर के पद पर आने के बाद जिन चित्रों की नक़लें तैयार की हैं, उनमें बहुत ही सावधानी रखी गई है, फलत उनमें प्रामाणिक सादृश्य दिखाई देता है।

सन् १९२६ में औंध-नरेश श्रीमान् बाला साहब पन्त प्रतिनिधि ने भिन्न भिन्न प्रान्तों के चित्रकारों के एक दल को अजन्ता में एक मास तक रहने की सुविधा प्रदान कर वर्तमान समय के समस्त साधनों की सहायता से गुफा के कुछ चित्रों की नक़लें तैयार कराईं, जो बहुत ही आधारभूत बन सकी हैं। इन पंक्तियों के लेखक को भी उस दल में रहकर अजंता की छाया में दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उस यात्रा के फलस्वरूप ही यह लेख लिखा गया है। कलारसिक पाठकों का चित्त इस लेख को पढ़कर अजन्ता की ओर आकर्षित हो, वे अजन्ता की यात्रा करें और उनकी कला-भक्ति नई शक्ति प्राप्त करे, यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।

—रविशंकर रावल

इसके बाद मि० फार्ग्यूसन ने पुन सरकार से अनुरोध किया और मूल चित्रो की नकल कराने का काम वंबई के आर्ट-स्कूल के प्रिंसिपल मि० ग्रिफिथ को सौंपा गया। वे पहले खुद अजंता जाकर सब कुछ देख आये, बाद को सन् १८७२ से लेकर सन् १८८१ तक स्कूल के विद्यार्थियों की सहायता से गुफाओं की नाप आदि ली और छत तथा स्तंभो के कतिपय चित्रों की नकलें तैयार कीं। इसमें पचास हजार से भी अधिक खर्च पड़ा। सन् १८८५ में यह काम बद कर दिया गया। सन् १८९६ में इस विषय के दो बड़े ग्रथ तैयार हुए। इन दोनो में अनमोल सामग्री भरी हुई थी। इन ग्रथों की मूल प्रतियाँ इंग्लैंड में भारत-मत्री के सरक्षण में रखी गई थी। मिस्टर ग्रिफिथ तो उन्हें बम्बई के आर्ट स्कूल मे ही रखना चाहते थे, किन्तु इसके लिये सरकार से अनुमति न मिल सकी। उन्होंने इनकी नक़ल करा लेनी चाही, परतु भारतमत्री ने यह प्रार्थना भी स्वीकार न की। अत में यह चित्र भी भारत मत्री के दफ़्तर मे आग लगने पर स्वाहा हो गये, शेप रह गये केवल उनके फ़ोटोग्राफ़।

इसके बाद सन् १९१५ ई० में लेडी हैरिंगहम कई भारतीय चित्रकारों के साथ अजंता गईं और उन्होंने केवल घटना-मूलक चित्रों की ही नक़लें कराईं। उस समय तक अजन्ता में निरीक्षण का कोई प्रबन्ध न था, इसलिये उन्हे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, और सभवत इसी कारण उनके कार्य में बहुतसी त्रुटियाँ रह गई हैं। फिर भी उनके कार्य की संसार ने

थे, इन्हीं में आप अपना धन खर्च किया करते थे। आपकी लोकप्रियता प्रसिद्ध थी। आपका द्वार सदा, सभी के लिये, खुला रहता था। आपके यहाँ सभी धर्मों के विद्वान् जमा हुआ करते थे। राजा से रक तक, महात्मा से लेकर गुडों तक, सभी आपके यहाँ समान रूप से स्वागत पाते थे। आपकी आत्मा महान् थी, आप सत्य के अनुसधान में सदा तत्पर रहते थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र था। बड़े भारी वैज्ञानिक होकर भी आपने कवि हृदय पाया था। अस्तु, सरोजिनी ने कवित्व का अश केवल अपने पिता से ही नहीं प्राप्त किया। इनकी माता श्रीमती वरदासुदरी देवी भी कवि थीं। अपनी युवावस्था मे इन्होंने भी बँगलाभाषा मे कुछ अत्यन्त सुन्दर कविताओं की रचना की।

ऐसे प्रतिभाशाली मा बाप की सतान सरोजिनी स्वय कैसे प्रतिभाशालिनी न होती। सरोजिनी तथा उनके भाई बहनों ने अपने माता-पिता के निरीक्षण में जैसी शिक्षा पाई, वैसी आजकल के जमाने में बहुत कम लोगों को नसीब होती है। सरोजिनी अपने माता पिना की पहली सतान हैं। इनके सभी भाई बहनों को शुरू से ही अँगरेजी भाषा की शिक्षा दी गई। यह शिक्षा बहुत विधिपूर्वक दी जाती थी। स्वय डॉक्टर अघोरनाथ उस ओर ध्यान देते तथा अपनी सतान पर तीव्र निरीक्षण रखते थे। ९ वर्ष की अवस्था में सरोजिनी को केवल अँगरेजी में सभाषण न कर सकने के अपराध में दड मिला था। इसका उल्लेख सरोजिनी ने स्वय किया है।

श्रीमती सरोजिनी नायडू

(१)

श्रीमती सरोजिनी का जन्म, दक्षिण-भारत की प्रसिद्ध मुसलमानी रियासत हैदराबाद की राजधानी में, १३ फ़रवरी, सन् १८७९ ई० में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय था। इन्होंने ब्रह्मनगरम् के एक प्राचीन तथा कुलीन ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया था। इनके पूर्वज समस्त पूर्व-बंगाल में, अपनी संस्कृतज्ञता तथा योगाभ्यास के लिये, प्रसिद्ध रह चुके थे। सरोजिनी के पिता ने स्वयं बड़ी उच्च शिक्षा पाई थी। उन्होंने सन् १८७७ ईसवी में, स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध एडिनबरा-विश्वविद्यालय से, विज्ञानाचार्य (डॉक्टर ऑफ़् साइंस) की उपाधि प्राप्त की थी, तदनंतर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र 'बॉन' में भी बड़ी योग्यता से शिक्षा पाई। इस प्रकार योरप से शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर आपने ही हैदराबाद में निज़ाम-कॉलेज की स्थापना की, और जब तक जीवित रहे, शिक्षा के क्षेत्र में ही स्वार्थत्याग के साथ अपना समय व्यतीत करते रहे। श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। परोपकार और विज्ञान, ये ही दो आपके व्यसन

आपने तेरह वर्ष की अवस्था से, स्कॉट की अंगरेज़ी-कविता 'लेडी ऑफ् दि लेक' के ढंग पर, १३०० पंक्तियों की एक कविता छः ही दिनों में रच डाली। उसी अवस्था में इन्होंने २००० पंक्तियों का एक नाटक भी बनाया। उधर डॉक्टर लोग इनका स्वास्थ्य देखकर यह कहते थे कि इन्हें पुस्तक छूने न देनी चाहिए। परंतु सरोजिनी कुछ न मानतीं। यहाँ तक कि उक्त रचना इन्होंने केवल डॉक्टर की आज्ञा की अवहेलना मात्र करने के लिये की थी। यह रचना बड़ी भावमयी हुई। नियमित पाठक्रम बंद हो जाने के कारण सरोजिनी ने बाहरी किताबें खूब पढ़ीं। आप लिखती हैं—"अपनी समझ में मैंने १४ और १८ वर्ष की अवस्था के बीच ही विशेष अध्ययन किया। इसी बीच में मैंने एक उपन्यास भी लिखा, और रोज़नामचों के तो बड़े-बड़े पोथे ही लिख डाले।"

श्रीमती सरोजिनी का जीवन-संग्राम इसी छोटी अवस्था से ही शुरू हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम श्रीगोविन्दराजलु नायडू से हो गया। डॉक्टर गोविन्दराजलु नायडू (सरोजिनी के पति) यद्यपि एक प्राचीन तथा कुलीन वंश के हैं, तथापि अब्राह्मण हैं। उनसे सरोजिनी का प्रेम हो जाना सरोजिनी के घरवालों को अच्छा नहीं लगा। उधर नायडू के पक्षवाले भी यह सम्बन्ध पसंद न करते थे। यद्यपि सरोजिनी के मस्तिष्क में स्वतंत्र विचारों के बीज पड़ चुके थे, तथापि दोनों पक्षवालों के प्रतिरोध के कारण उनका विवाह गोविन्दराजलु से उस समय न हो सका। अस्तु,

श्रीमती सरोजिनी ने अपने कतिपय पत्रों मे अपने पिता तथा अपनी बाल्यकाल की शिक्षा का वर्णन किया है। इनके पिता इन्हें गणित-शास्त्र तथा विज्ञान की विदुषी बनाने के उद्योग मे लगे थे, परंतु इन विषयो मे सरोजिनी की विशेष अभिरुचि न थी। यद्यपि बाल्यावस्था में कविता लिखने की ओर इनका विशेष ध्यान न था, तथापि यह बड़ी कल्पनाशील थीं। आप अपने एक पत्र में लिखती हैं—"एक दिन, जब कि मेरी अवस्था ११ वर्ष की थी, मैं बीजगणित के एक प्रश्न पर बैठी खीझ रही थी, सवाल ठीक निकलता ही न था। उसके बदले एक पूरी कविता मेरे मन में आ गई और मैंने उसे लिख डाला।"

बारह वर्ष की अवस्था में सरोजिनी ने मद्रास-युनिवर्सिटी की मैट्रिक्युलेशन (प्रवेशिका) परीक्षा पास कर ली। उस समय भारत में स्त्री-शिक्षा, आजकल के देखते, बहुत पिछड़ी दशा में थी। ऐसी छोटी अवस्था में मैट्रिक्युलेशन परीक्षा ही पास कर लेने से संपूर्ण भारत में आपका नाम हो गया, पर स्वयं सरोजिनी को अपनी इस सफलता पर विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। इँगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक मिस्टर आर्थर साइमन्स से, यह प्रसंग आने पर, आपने स्वयं कहा था—"मैं सच कहती हूँ, इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। ऐसी बातों से मुझे प्रसन्नता नहीं हो सकती।" बात यह है कि सरोजिनी को कविता की धुन लग चुकी थी, और यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा सकता था, तथापि वह कविता के अध्ययन में ही विशेष लगी रहती थीं।

आपने तेरह वर्ष की अवस्था मे, स्कॉट की अँगरेजी कविता 'लेडी ऑफ् दि लेक' के ढग पर, १३०० पक्तियों की एक कविता छ ही दिनो में रच डाली। उसी अवस्था मे इन्होंने २००० पक्तियों का एक नाटक भी बनाया। उधर डॉक्टर लोग इनका स्वास्थ्य देखकर यह कहते थे कि इन्हे पुस्तक छूने न देनी चाहिए। परतु सरोजिनी कुछ न मानतीं। यहाँ तक कि उक्त रचना इन्होने केवल डॉक्टर की आज्ञा की अवहेलना मात्र करने के लिये की थी। यह रचना बडी भावमयी हुई। नियमित पाठक्रम बद हो जाने के कारण सरोजिनी ने बाहरी किताबें खूब पढीं। आप लिखती हैं—"अपनी समझ मे मैंने १४ और १८ वर्ष की अवस्था के बीच ही विशेष अध्ययन किया। इसी बीच में मैंने एक उपन्यास भी लिखा, और रोजनामचों के तो बडे-बडे पोथे ही लिख डाले।"

श्रीमती सरोजिनी का जीवन-सग्राम इसी छोटी अवस्था से ही शुरू हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम श्रीगोविन्दराजलु नायडू से हो गया। डॉक्टर गोविन्दराजलु नायडू (सरोजिनी के पति) यद्यपि एक प्राचीन तथा कुलीन वश के हैं, तथापि अब्राह्मण हैं। उनसे सरोजिनी का प्रेम हो जाना सरोजिनी के घरवालों को अच्छा नहीं लगा। उधर नायडू के पक्षवाले भी यह सम्बन्ध पसद न करते थे। यद्यपि सरोजिनी के मस्तिष्क में स्वतत्र विचारो के बीज पड चुके थे, तथापि दोनों पक्षवालों के प्रतिरोध के कारण उनका विवाह गोविन्दराजलु से उस समय न हो सका। अस्तु,

सरोजिनी ने इस प्रणय को स्थगित तो कर दिया, परन्तु विवाह का विचार नहीं छोड़ा।

सरोजिनी को हैदराबाद के निज़ाम की ओर से विलायत जाने के लिए एक वज़ीफा मिल गया। सन् १८९५ ईसवी में, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, सरोजिनी उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिये इँगलिस्तान भेजी गईं। वहाँ पहले तो इन्होंने लंदन के प्रसिद्ध किंग्स कॉलेज में, और फिर गर्टन में रहकर विद्याध्ययन किया। इँगलिस्तान में वह लगभग तीन वर्षों तक रहीं। इसके बाद वहाँ भी इनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, जिसके कारण वह सन् १८९८ ई० में हैदराबाद लौट आईं।

इँगलिस्तान में रहकर श्रीमती ने अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग किया। विद्या-लाभ के अतिरिक्त आपने वहाँ के कई बड़े-बड़े साहित्य-सेवियों से परिचय प्राप्त किया। उस छोटी अवस्था में भी अपने उच्च विचारों के कारण तथा व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा आपने वहाँ के बहुतसे बड़े लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त कर लिया। इँगलिस्तान में रहते समय आपने इटली की भी सैर की, इटली के ऊपर आप जी-जान से मोहित हो गईं। उसके विषय में अपने विचारों को प्रकट करते हुए जो पत्र आपने मिस्टर आर्थर साइमन्स के पास भेजे थे, उनसे इस बात का पता चलता है कि आपपर इटली का कितना बड़ा प्रभाव पड़ा था। श्रीमती सरोजिनी के ये पत्र अत्यन्त उत्कृष्ट तथा सुन्दर अँगरेज़ी के नमूने हैं। इनमें प्राच्य की झलक भी स्पष्ट है।

भारत में लौटने के तीसरे ही महीने सरोजिनी ने, १९ वर्ष की अवस्था में, अपने प्रणय-पात्र श्रीगोविन्दराजलु नायडू से विवाह कर लिया। यद्यपि इस विषय में भारत भर में नाना प्रकार की टिप्पणियाँ हुईं, तथापि सरोजिनी ने अपने स्वतन्त्र विचारों को कार्य-रूप में परिणत करके दिखला दिया। सरोजिनी का वैवाहिक जीवन बड़ा सुखमय रहा है। आपके चार सन्तानें भी हैं। श्रीमतीजी को कविता के अनुशीलन तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अवकाश मिलता रहा है।

(२)

हम यह बतला चुके हैं कि सरोजिनी ने ग्यारह वर्ष ही की अवस्था से काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी। इँगलिस्तान जाने के समय आपकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उस समय तक वह बहुतसी कविताएँ लिख चुकी थीं। सरोजिनी के कवि जीवन की एक घटना बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। वह हमारे लिये केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं, शिक्षाप्रद भी है। इस घटना के लिये हम एक वयोवृद्ध तथा प्रतिष्ठित अँगरेज़ी-साहित्यिक-मिस्टर एडमंड गॉस—के चिरकृतज्ञ रहेंगे। सौभाग्यवश आप अभी जीवित हैं *। आपकी अवस्था ७६ वर्ष की है। आप अँगरेज़ी-साहित्य के महारथियों में हैं। आप ही ने एक दूसरी भारतीय स्त्री-कवि—कुमारी तरुदत्त—की रचनाओं का पाश्चात्य भूखंड में प्रचार किया था।

* ई० स० १९२८ में आपका स्वर्गवास हो गया। —सम्पादक

सौभाग्यवश, इँगलिस्तान मे पहुँचने के थोडे ही समय वाद सरोजिनी का इनसे परिचय हो गया। सरोजिनी इनके यहाँ आने-जाने लगीं। भला मिस्टर गॉस से यह वात कब छिपी रह सकती थी कि सरोजिनी वड़े उत्साह से कविता लिखा करती हैं, और वह भी अँगरेजी भाषा में। गॉस साहब ने इनकी कविताएँ देखने की इच्छा प्रकट की। सरोजिनी ने अपनी कविताओं का वडल उन्हे दे दिया। गॉस ने एकान्त मे इनकी रचनाओ का अध्ययन और मनन किया। सरोजिनी के लिये ऐसे उत्कट समालोचक को सन्तुष्ट करना सहज न था। मिस्टर गॉस को ये कविताएँ कृत्रिम और प्रेरणा-विहीन प्रतीत हुई। उन्हे वडी निराशा हुई। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो किया, उसके लिये सरोजिनी के पाठक उनके चिर-कृतज्ञ रहेगे। इस घटना का वर्णन उन्होंने स्वयं सरोजिनी की एक पुस्तक की भूमिका में किया है। आप लिखते हैं—"श्रीमती सरोजिनी ने जो पद्य मुझे दिए, वे पिंगल, व्याकरण तथा भावों की दृष्टि से दोप-रहित थे, परन्तु उनमें एक वडी भारी कमी यह थी कि वे नितान्त व्यक्तित्व शून्य थे। भावों तथा कल्पना की दृष्टि से वे पाश्चात्य के रग में रँगे हुए थे। उनमे टेनिसन और शेली के रगों का आभास होता था। यदि मैं भूल नहीं करता, तो उनमें ईसाई-मत का-सा त्याग भी झलकता था। मैंने विषादपूर्वक उन्हें उठाकर अलग रख दिया। यह तो अनुकरण करनेवाले पक्षी की वाणी थी।"

परन्तु फिर मिस्टर गॉस ने लेखिका की अल्पावस्था की ओर

ध्यान दिया—उसके उत्साह को तोड़ना उचित न समझा। उन्होंने सरोजिनी को अपनी सच्ची अनुमति देने का निश्चय किया, जिसका तात्पर्य यह था—"झूठे अँगरेजी भावों में डूबी हुई अपनी सब रचनाओं को रद्दी कागज की टोकरी में डाल दो। एक विचारशील भारतीय युवती से, जिसने हमारी भाषा का ही नहीं, हमारे पिंगल का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, हम पाश्चात्य भावों तथा कल्पनाओं की प्रतिध्वनि की आशा नहीं करते। हम प्राच्य भावों और कल्पनाओं का परिचय उससे प्राप्त करना चाहते हैं, धर्म के उन प्राचीन मन्तव्यों का दिग्दर्शन चाहते हैं, जिनका प्राच्य देशों में उसी समय अनुभव हो चुका था, जब पाश्चात्यों को अपनी आत्मा की स्थिति का ही ज्ञान न था।" उन्होंने यह आशय भी प्रकट किया—"तुम अँगरेजों की तरह पक्षियों—रोबिन और लवे—का वर्णन अपनी कविता में करना छोड़ दो। इसी प्रकार हमारे फलों, फूलों, वृक्षों तथा दृश्यों और भूदेशों के वर्णन का भी सदा के लिये परित्याग कर दो, हमारे गिरजाघरों के घंटों को भूल जाओ। अपने देश और प्रान्त की नदियों, पर्वतों, मन्दिरों, उद्यानों, वनस्पतियों तथा निवासियों का वर्णन करो—इनके सहज प्राकृतिक भावों को व्यक्त करो। साराश यह कि भारतीयता धारण करो, पाश्चात्य कवियों की नक़ल करने की चेष्टा में अपने व्यक्तित्व का नाश न कर डालो।"

सरोजिनी को यह बात लग गई। उन्होंने धन्यवादपूर्वक उस वृद्ध साहित्यिक की सम्मति स्वीकृत कर ली। इसके बाद स्वय

तक ही नहीं फैली, बल्कि इनकी रचनाओं के अनुवाद फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में भी हुए। इस पुस्तक की भूमिका के लेखक वही महाशय एडमंड गॉस हैं, जिन्होंने सरोजिनी को भारतीय रंग में डूबी हुई कविताएँ करने का परामर्श दिया था। फिर पाँच वर्षों के बाद, सन् १९१७ में, आपकी चौथी पुस्तक—'टूटा हुआ डैना' (The Broken Wing) प्रकाशित हुई। अब तक प्रकाशित कविता पुस्तकों में यही आपकी अन्तिम पुस्तक है।

सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों की ओर सरोजिनी की जो प्रवृत्ति आरंभ ही से थी, उसका वर्णन आ चुका है। आपकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। इसके कारण कविता के व्यसन को भी किंचित् स्थगित करना पड़ा। इस अन्तिम पुस्तक में एकत्र की गई अधिकांश कविताएँ सार्वजनिक कार्यों से समय निकालकर, सन् १९१५-१६ में, लिखी गई थीं। ज्यों-ज्यों सरोजिनी सार्वजनिक कार्यों में अधिकाधिक लीन होती गईं, त्यों-त्यों उनके कवित्व में कुछ क्षीणता आती गई। समालोचकों ने उन्हें पहले से ही जता दिया था कि राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करना आपकी कविता को क्षति पहुँचावेगा। परंतु देश-सेवा के प्रश्न उन्हें महत्तर जान पड़े, और इसमें संदेह नहीं, कविता की ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि आपकी अन्तिम पुस्तक कविता की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नहीं हुई, जितनी कि प्रथम तीन पुस्तकें। यद्यपि इस पुस्तक के कुछ अंश हमें पूर्व-सरोजिनी की

स्मृति दिलाते हैं, तथापि सब मिलाकर यह पुस्तक पहली पुस्तकों से गिरी हुई है।

समालोचकगण श्रीमती सरोजिनी की राजनीतिक प्रवृत्ति को उनकी कवित्व शक्ति के ह्रास का कारण बतलाते हैं, पर हमारा उनसे मतभेद है। हम स्वीकार करते हैं कि इन दोनों बातों में पारस्परिक सम्बन्ध है, परन्तु वह सम्बन्ध कैसा है? हमारे विचार में उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति उनके कवित्व के ह्रास का कारण नहीं, परिणाम है। हमारा यह अनुमान करना अनुचित है कि सरोजिनी अपने वास्तविक उद्देश्य से विमुख हैं। वास्तव में वह कवि हैं, स्वयं अनेकों बार इस बात पर जोर दे चुकी हैं कि मैं कवि हूँ, राजनीतिज्ञ नहीं। परन्तु कविता के लिये प्रेरणा हुआ करती है। उस प्रेरणा को कवि ही समझ सकता है। सरोजिनी की यह प्रेरणा क्षीण हो रही थी। उन्होंने उसे रोकने का प्रयास अपनी अन्तिम पुस्तक में किया है, पर वह असफल रहा। वे रचनाएँ अनैसर्गिक प्रतीत हुईं। बिना प्रेरणा के कविता रचना ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रेरणा जीवन से संसर्ग प्राप्त होने पर जाग्रत होती है। हमारी राय में, राजनीति के क्षेत्र में उनका आना अपनी लुप्त प्रेरणा को पुनः प्राप्त कर लेने का साधन होगा। उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि हम सरोजिनी से भविष्य में आशा रख सकते हैं। वह भविष्य जहाँ तक शीघ्र आवे, अच्छा है। यह निश्चय है कि वह अब जो कविताएँ लिखेंगी, उनमें नया रंग रहेगा। सरोजिनी के जीवन में हमें नित्य प्रति

परित्याग तथा तपश्चर्या की मात्रा अधिकाधिक दिखलाई पड़ती है। हमे आशा है, श्रीमती सरोजिनी की आगामी कविताओं में हम वह रग पावेंगे, जो इनकी 'स्वर्ण देहली' पुस्तक की अन्तिम कविता—'पद्मासीन बुद्ध'—मे है।

(३)

श्रीमती सरोजिनी की कविता की विशेषताओं की कुछ आलोचना भी आवश्यक है। सरोजिनी का प्रधान गुण उनकी भारतीयता है। यद्यपि श्रीमती की रचनाएँ अँगरेजी मे होती हैं, और यद्यपि उक्त भाषा की शैली, प्रवृत्ति तथा उसके विचार-केन्द्र हमसे सर्वथा पृथक् हैं, तथापि इन रचनाओं में हमे अपने देश के भावों का ही प्रतिबिम्ब मिलता है। उनमे कहीं भी विदेशीयता की बू नहीं आने पाई। किस प्रकार मिस्टर एडमंड गॉस के उपदेश से सरोजिनी की प्रेरणा स्वदेशी भावो के प्रति जागृत हुई थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। कुछ भी हो, इसके अतिरिक्त कि सरोजिनी की रचनाएँ विदेशी भाषा मे होती हैं, उनकी कविता में और कोई विदेशीपन नहीं आने पाया। उनकी कविता में सर्वत्र अपने देश के दृश्यों का, फल-फूल-लता पल्लवों का, पशु-पक्षियों का वर्णन तथा अपने ही देश की जनता के रस्म-रवाज, उत्सवों और त्योहारों का वृत्तान्त, अपने देश की ऋतुओं का हाल एव अपने ही देश की सरिता और पर्वतो से प्रेम पाया जाता है। साराश यह कि अपने ही देश और समाज के चित्र अकित हुए हैं। यही नहीं कि

विषयों के चुनाव में ही भारतीयता देख पडती हो, प्रत्युत उपमाओं और अलकारों में भी भारतीयता झलकती है। सरोजिनी की रचनाएँ प्रधानतः अँगरेजी पाठकों के निमित्त लिखी गई हैं, और जिस प्रकार हमारे देश के रहन-सहन, आचार विचार और सभ्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, उससे बहुत बडा देशहित का साधन होता है। इससे पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क घनिष्ठ होता है। इनकी कविता की प्रशसा करते हुए विलायत के एक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा था—"इन कविताओं ने एक ऐसा नया द्वार खोल दिया है, जिसके द्वारा यदि पाश्चात्य लोग चाहें, तो पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" वास्तव में बात भी यही है। श्रीमती सरोजिनी देशप्रेम में डूबी हुई हैं, परन्तु उनका स्वदेश प्रेम सकुचित नहीं है। यह देश प्रेम उनकी दृष्टि मे उस महान् विश्व-प्रेम का अग-मात्र है, जिसके लिये समस्त ससार की महान् आत्माएँ प्रयत्न-शील हैं। यही कारण है कि उनकी कविता ने केवल भारत-वासियों से ही नहीं, विदेशियों से भी प्रशसा पाई है। उनका प्रेम वर्ग, जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष तक ही सकुचित नहीं है। उनकी सहानुभूति सर्वव्यापी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी आदि के भेदभावों से वह बहुत ऊपर और बहुत पृथक् हैं।

जिस प्रकार उनकी कविता में जाति पाँति का भेद नहीं, उसी प्रकार ऊँच-नीच का भी नहीं है। स्वय श्रीमती ने उच्च कुल में जन्म लिया है, धन की गोद में पली हैं, परतु वह प्राणी मात्र से सम भाव रखती हैं। हमारे सरल ग्रामीणों के हृदयों में उनकी अच्छी

तरह से पैठ है। उन्हें उनके सुख-दुःख, राग-रंग और रहन-सहन की केवल जानकारी ही नहीं, सच्ची सहानुभूति भी है। यही कारण है कि हमारे ग्रामीणों के विषय में वह बड़ी सुन्दर कविता कर सकती हैं। उनकी कविताओं में हमें अपने ग्राम्य जीवन का सजीव परिचय प्राप्त होता है।

उनकी कविता का एक दूसरा प्रधान गुण उसकी संगीत-संगति है। जिस समय सरोजिनी से मिस्टर आर्थर साइमन्स ने अपने स्फुट पद्यों को एकत्र करके छपाने का अनुरोध किया था, उस समय आपने अपनी अनिच्छा प्रकट करते हुए लिखा था—"मेरा संगीत पक्षियों के संगीत की भाँति है, उसी प्रकार क्षणिक है × × × क्या यह सम्भव है कि मैंने सुंदर गीत लिखे हैं, और वे प्रकाशन करने के योग्य हैं?" इसपर उक्त समालोचक ने यह यथार्थ टिप्पणी की है—"इन पद्यों की विशेषता यही है कि इनमें पक्षियों का सा संगीत है।" यही सरोजिनी की कविता का वास्तविक तथा प्रधान गुण है। इनकी सभी कविताएँ छोटी हैं, परन्तु उनमें भावों की एकाग्रता और शब्दों का मितव्यय है। अँगरेज़ी में ऐसी कविताओं को 'लिरिक्स' कहते हैं। इसी प्रकार की कविताएँ उनके लिये सहज और उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं। मैं यह अनुमान करने का साहस करता हूँ कि बड़ी कविताएँ लिखने में कदाचित् वह इतनी सफल न हों। कारण, एकाग्रता और विस्तार, इन दोनों ही में प्रतिद्वन्द्विता है, और इसमें आश्चर्य ही क्या, जो हाथीदाँत के टुकड़ों पर काम करनेवाला नक्काश

नाट्य मच के बड़े-बड़े परदे बनाने के योग्य न ठहराया जाय। यह बात नहीं कि उनकी कविताओं में चित्रों की विभिन्नता न हो— प्रत्येक पक्ति एक नया चित्र आँखों के सामने उपस्थित करती है। परतु हमें केवल एक झलक मिलती है—हमारे नेत्र अतृप्त रह जाते हैं और सौन्दर्य-पिपासा निरन्तर बनी ही रहती है। ऐसा प्रभाव केवल अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की कविता ही हमारे ऊपर डाल सकती है।

अँगरेजी पर आपको जो अधिकार प्राप्त है, वह अत्यन्त सराहने योग्य है। उस भाषा में आपकी कहाँ तक पहुँच है, इसकी सच्ची विवेचना अँगरेज ही कर सकते हैं। महाशय एडमंड गॉस जैसे सहज में प्रसन्न न होनेवाले विद्वान् और समालोचक की निम्न लिखित सम्मति इस सम्बन्ध में भी बहुत मूल्यवान् है—

"वास्तव में मैं यह विश्वास करने के लिये अप्रस्तुत नहीं हूँ कि आज तक जितने हिन्दोस्तानियों ने अँगरेजी में रचनाएँ की हैं, उनमें इन (सरोजिनी) की रचनाएँ सबसे चमत्कारिक, सबसे मौलिक तथा सबसे शुद्ध होती हैं।"

समालोचक का तात्पर्य पद्य-रचना से जान पड़ता है। एक दूसरे बड़े अँगरेज समालोचक ने इनकी भाषा की प्रशसा करते हुए लिखा था—"ये कविताएँ रचना की दृष्टि से तो निर्दोष हैं ही, पर कवि की पूर्वीयता ने इनमें एक विशेष रग ला दिया है। इनकी कविताएँ पढने के बाद हमें अपनी मातृ-भाषा और भी मधुर प्रतीत होती है।"

आपकी भाषा की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सक
है ? आप अँगरेजी की विदुषी अवश्य हैं, परन्तु आपने अप
पूर्वीय रंग को छोडा नहीं, और इस प्रकार आपकी रचनाओं
पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का अच्छा दिग्दर्शन होता है
आपकी भाषा अलंकृत, प्रवाहमयी और सुंदर होती है। आपक
गद्य भी अत्यन्त सरस होता है। सरलता के भी अनेकों उदाहर
मिलते हैं। परतु आपकी कविता सरल हो चाहे अलंकृत, स
उच्च साहित्यिक कोटि की होती है। अँगरेजी में आपके प्रवे
और अधिकार का एक यह भी प्रमाण है कि गूढ़-से-गूढ़ भा
को आप बहुत थोडे शब्दों मे सरसतापूर्वक प्रकट क
देती हैं।

सरोजिनी को केवल अँगरेजी पर ही नहीं, वल्कि उस
पिंगल पर भी असाधारण अधिकार है। आपने अनेकों अँगरेजी
छदों में कविता की है और सभी प्रकार के छदों में सफलता भ
पाई है। आपने छोटी-से छोटी और वडी-से-बडी पक्तियों के छद
का प्रयोग किया है। आपने भारतीय जोगीडों पर 'इडियन
डान्सर्स'(Indian Dancers) शीर्षक देकर एक कविता क
है। इसमें छद-रचना-कौशल की पराकाष्ठा दिखला दी है। भाषा
भाव, छद और शब्द विन्यास, सभी का अपूर्व सम्मिलन है।
पढकर जी फडक उठता है, और उन्हीं जोगीडों के साथ नाचने
लगता है। खेद है, उनका अनुवाद असम्भव है। त्वरित गतिवाले
छद आपको विशेष प्रिय हैं। उक्त कविता की मादकता 'प्रेम नृत्य'

(The Dance of Love) शीर्षक कविता मे भी मिलती है, परतु वहाँ नर्तकों में उतनी द्रुत गति नहीं है। कारण, इस कविता में रात्रि अधिक बीत चुकी है। इनकी कुछ कविताएँ सुनकर मेरे एक साहित्य-प्रेमी मित्र ने मुझसे कहा था—"सरोजिनी का सगीत कहीं शेली (Shelley) का-सा है, तो कहीं स्विनबर्न (Swinburne) का-सा"। अँगरेजी साहित्य में, सगीत की दृष्टि से, इन्हीं दो कवियों का स्थान सबसे ऊँचा है। सच बात यह है कि सरोजिनी का अपना रग निराला ही है। अपने छन्दो मे सरोजिनी ने कुछ भारतीय छन्दो का भी समावेश किया है, कई कविताएँ उर्दू लय में लिखी हैं। *'सुनलिनी के लिये लोरी'* (Slumber-song for Sunalini)-शीर्षक कविता बगाली लय मे अत्यत सुन्दर हुई है। इस प्रकार सरोजिनी ने अपने छदों मे भी पूर्वीयता का परित्याग नहीं किया।

इसमें सदेह नहीं, श्रीमती की कविता का एक बडा अश प्रेम और शृगार रस में डूबा हुआ है, तथापि और रसों का अभाव नहीं है। 'पद्मासीन बुद्ध' पढकर हम शातरस में डूब जाते हैं। *यथा—*

"हे प्रार्थनामय नेत्रोंवाले, अभय मुद्रा में स्थित पद्मासीन भगवान् बुद्ध, यह कैसा अक्षुण्ण, अनत तथा रहस्यमय परमानद तुम्हे प्राप्त है। तुम्हारी कैसी परम शान्ति है, जिसका हमारी दृष्टि को आभास नहीं हो सकता, और जो मनुष्य-ससार के लिये दुर्लभ है।

"हमारे कोलाहल-पूर्ण जीवन पथ में परिवर्तन की वायु सदा चलती रहती है। आनेवाले दिवस की व्यथाएँ बीते हुए दिवस के दु खों का स्थान ले लेती हैं। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न आता है, एक समस्या के अनन्तर दूसरी समस्या उपस्थित होती है, और अत में काल जीवनरूपी जाल को विच्छिन्न कर देता है।

"हमारे लिये दु ख और यातनाएँ हैं, अपने गर्व के खडित रहस्य हैं, पराजय के कठिन पाठ हैं। हमारे लिये ऐसे पुष्प हैं, जो दुष्प्राप्य हैं, ऐसे फल हैं, जो वर्जित हैं। हमारे लिये वह परम शान्ति कहाँ, जिसपर, हे पद्मासीन भगवान् बुद्ध, तुमने अधिकार प्राप्त कर लिया है।

"हम अपनी कष्ट-साध्य अभिलाषाओं की तृप्ति में असफल रहते हैं, उस दैवी उंच शिखर पर चढते हुए हमारे पैर थक जाते और हमारे विश्वास शिथिल पड जाते हैं। परतु संसार की कोई वस्तु हमारी ईश्वरीय वासना को न रोक सकती और न उसपर विजय प्राप्त कर सकती है।

"अन्त-स्थान दूर और अस्पष्ट है, परतु वह निरन्तर हमें अपनी ओर बुला रहा है। हमारे सम्पूर्ण जीवन के दिवस अनन्त के एक क्षण मात्र हैं। हे पद्मासीन, तुम्हारे निर्वाण पद को हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

सरोजिनी की कविता में स्थान स्थान पर उनके स्त्रीत्व का परिचय मिलता है। प्रत्येक विषय पर उन्होंने स्त्री के विचार-केन्द्र से दृष्टि डाली है और उसी प्रकार वर्णन भी किया है, जैसा कि

उचित है। उनका प्रकृति-वर्णन बहुत सच्चा और सुन्दर होता है।

यद्यपि सरोजिनी की सहानुभूति सर्वव्यापी है, यद्यपि उनक कविता में हिन्दू-मुसलमान-पारसी-ईसाई आदि का भेद भाव नहीं मिलता, तथापि यह कहना यथार्थ ही है कि उसपर हिन्दूपन की छाप है, जीवन के प्रश्नों पर अन्वेषण का ढग सर्वथा हिन्दू का ही है।

सरोजिनी कवित्व के महान् आदर्शों को भली भाँति समझती हैं। उनका कविता का आदर्श स्वय बहुत ऊँचा है। अपनी कविता में, और अन्यत्र भी, आपने इस आदर्श के उद्गार भी प्रकट किए हैं। 'इन दि फॉरेस्ट' (वन में) शीर्षक पद्य में आप लिखती हैं—

"हे मेरे हृदय, हमें शीघ्र ही उठना होगा, और ससार-युद्ध तथा जन समूह के कोलाहल में सम्मिलित होना होगा। × × × हे मेरे हृदय, आ, हम उठें और अपने बचे हुए स्वप्नों को एकत्र करें। हम जीवन की वेदना पर सगीत की वेदना से विजय प्राप्त करेंगे।"

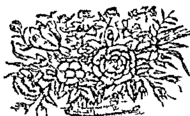
सरोजिनी की सदा से यह इच्छा रही है कि वह कवि का वास्तविक उद्गार प्राप्त करें। अपनी कविता के विषय में वह एक पत्र में लिखती हैं—

"यह सभव है कि मैंने सौन्दर्य पूर्ण पद्य लिखे हैं × × × आप जानते हैं, मेरा कला का आदर्श कितना उच्च है, और मेरी दृष्टि में मेरे तुच्छ और स्फुट पद्य मुझे पूर्ण रूप से सुन्दर नहीं

प्रतीत होते। मेरा तात्पर्य उस सनातन सौन्दर्य से है, जिस मुझे महती अभिलाषा रहती है।"

यद्यपि अपनी कविता के सम्बन्ध में सरोजिनी को आर निर्मूल है, तथापि इस अवतरण से हमें उनके महान् आदर्श झलक जरूर मिलती है। वास्तविक कवित्व का उद्गार करना श्रीमती के जीवन की प्रधान आराधना है। इसी आराध में वह अनन्त सुख तथा दुःख का अनुभव करती हैं।

—रामचन्द्र टंडन



विज्ञानाचार्य एडीसन

विज्ञान से संसार को अकथनीय लाभ हुआ तथा उसने अपने चमत्कार से सारे जगत् को जगमगा दिया है। यहाँ तक कि वह हमारे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक बन गया है। वे लोग धन्य हैं, जिन्होंने अपने विशाल मस्तिष्क द्वारा अनेक अभूत पूर्व आविष्कार कर अपने देश या राष्ट्र का सिर ऊँचा किया है। विज्ञानाचार्य एडीसन भी ऐसे ही प्रतिभाशाली महान् पुरुषों में समझे जाते हैं। आपने एक अति साधारण परिवार में जन्म ग्रहण कर वह काम किये, जिनके कारण आज बड़े बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् आश्चर्य सागर में डूबे हुए हैं। एडीसन साहब का देहान्त हुए बहुत दिन नहीं हुए, अभी केवल चार-पाँच वर्ष पूर्व वह अपने आविष्कारों के जादू से संसार को मुग्ध करते हुए पर-लोकवासी हुए हैं। यहाँ हम इन विज्ञानाचार्य के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिखना चाहते हैं। आशा है, पाठक इस परिचय से उनके जीवन का कुछ अनुमान कर सकेंगे।

जन्म और वंश-परिचय

एडीसन का जन्म ११ फरवरी सन् १८४७ ई० को मीलान (अमेरिका) में हुआ था, परन्तु इनके पुरखाओं की जन्म-भूमि

हॉलैण्ड बताई जाती है। वहीं से वे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अमेरिका आये थे। एडीसन के प्रपितामह एक बैंक में किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। ये १०४ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। एडीसन के पितामह जॉन एडीसन भी अच्छी आयु पाकर परलोकवासी हुए। मरते समय उनकी उम्र १०२ वर्ष की थी। एडीसन का पूरा नाम टोमस अलवा एडीसन था। इनके पिता सेमुअल एडीसन को पैतृक सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकी। उन्होंने मिस लैन्सी इलियट नाम की एक अध्यापिका से विवाह कर लिया था। सेमुअल साहब खूब हृष्ट-पुष्ट और देखने में बड़े सुन्दर थे, इन्हें युद्ध सम्बन्धी बातों से बडा प्रेम था। इनके मुख-मण्डल पर वीरोचित तेज सदैव झलकता रहता था। ये अपनी वीरता और तेजस्विता के कारण एक सेना के कप्तान बनने में सफल हुए थे। कप्तान की हैसियत से आपने जो काम किया, उसने आपको बहुत जल्द प्रसिद्ध कर दिया। यह नौकरी करने के कुछ दिन बाद आपकी व्यापार की ओर रुचि हुई, और मीलान में आपने एक दूकान खोल दी, जो बड़ी सफलता से चली। एडीसन की माता लैन्सी इलियट भी विदुषी देवी थीं, वह अपने पति के कार्यों में पूरी तरह सहायक रहकर गृहस्थ के काम काज को बडी खूबी के साथ चलाती थीं। माता-पिता के सद्गृहस्थोचित सुन्दर [illegible] का बालक एडी[illegible] पर भी बडा अच्छा प्रभाव पडा। [illegible] [illegible]ता। अपनी [illegible] सभ्य, सुशील और [illegible] [illegible] समय [illegible] उनका [illegible] सहन [illegible]

भी अपने माता पिता के अनन्य भक्त और आदर्श आज्ञापालक थे। एडीसन तीन भाई बहिन थे। बडे भाई विलियम पिट और बहिन टेनी एडीसन वेली। पिट एक रेलवे लाइन में नौकर थे और बहिन टेनी का अधिक समय पढने लिखने में व्यतीत होता था।

शिक्षण और परीक्षण

एडीसन बचपन से ही बडे कुशाग्र-बुद्धि थे, वह जो नई चीज देखते उसी के सम्बन्ध में अपने पिता से प्रश्नों की झडी लगा देते थे। पिता उत्तर देते-देते थक जाते, पर एडीसन किसी बात को यों ही न मान लेते थे। जब तक उन्हे पूरा सन्तोष न हो जाता, तब तक उसके विषय में बराबर पूछ ताछ जारी रखते थे। बालकपन में एडीसन का स्वास्थ्य अच्छा न था। उनका सिर इतना बडा था कि डाक्टरो की राय में अधिक पढने-लिखने से उन्हे मस्तिष्क सम्बन्धी रोग हो जाने की आशङ्का थी। इसीलिए प्रारम्भ मे वह स्कूल नहीं भेजे गये। उनकी माता ने ही घर पर ऐसी अच्छी शिक्षा दी, जो कदाचित् स्कूल के कमरों मे बैठकर प्राप्त न हो सकती थी। एडीसन को जो पढाया जाता, उसे वह तुरन्त याद कर लेते और फिर कभी न भूलते थे। बालक एडीसन की ऐसी तीव्र बुद्धि देखकर सबको बडा आश्चर्य होता था। साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकों के साथ कला कौशल-विषयक बातों के अध्ययन की ओर भी उनकी अच्छी रुचि थी। शिल्पकला-सम्बन्धी जिस

बात को वे कहीं देखते या पढते, उसका अपने हाथ से भी अनुभव करते थे। दिन-रात उनकी तबियत ऐसी ही बातों में लगी रहती थी। एडीसन को ऐसी बातें देखकर घरवालो को अनुमान होता था कि इस लडके की कला कौशल की ओर खूब प्रवृत्ति है, निश्चय ही किसी दिन यह बड़ा कला-कुशल होगा।

एडीसन को साहित्य, इतिहास, कला-कौशल आदि से तो बड़ा प्रेम था, परन्तु गणित में इनकी बिलकुल रुचि न थी। ये हिसाब का नाम सुनकर घबरा जाते थे। विक्टर ह्यूगो की कहानियाँ तो इनके नैत्यिक स्वाध्याय में सम्मिलित थीं। उनके बिना पढे तो इन्हे कल ही न पडती थी। इन कहानियों की धुन में तो वह खाना पीना तक भूल जाते थे और उनका जादू इन्हें मन्त्र मुग्ध-सा कर देता था। दस वर्ष की आयु में एडीसन ने रसायन-विद्या का भी कुछ अभ्यास किया और इस ओर अच्छी प्रगति दिखाई। आपने अपने घर पर एक छोटी-सी रसायनशाला बनाकर रासायनिक द्रव्यों से भरी कितनी ही बोतले उसमें जमा कर दीं। एडीसन अपने साथी बालकों में न खेलते थे, बल्कि उनका खेल अपनी प्रयोगशाला मे इन बातलो के साथ होता था। वह एकान्त में बैठे बोतलों के द्रव्यो को उँडेल और एक-दूसरे से मिलाकर न जाने क्या-क्या परीक्षण किया करते थे, परन्तु रसायन सम्बन्धी थोडी सी जानकारी के अतिरिक्त और कोई बात इस शाला से उनके हाथ न लगी।

यह प्रयोगशाला एडीसन ने अपने जेब खर्च के पैसों से बनाई

थी। जब उनके इकट्ठे किये हुए सब पैसे इसमें खर्च हो गये, और दूसरी चीजें खरीदने के लिए कौडी भी पास न रही, तब एडीसन बड़े चकराये और इस प्रकार अपनी सारी स्कीम के नष्ट भ्रष्ट हो जाने की आशङ्का करने लगे। इस समय उन्हें एक तरकीब सूझी, वह अपने माता पिता से आज्ञा लेकर समाचार-पत्र बेचने लगे और उनकी आमदनी को अपनी रसायनशाला में लगाने लगे। समाचार-पत्र बेचना, पुस्तकालय में किताबें पढ़ना और शाला में डटकर काम करना, यही एडीसन की मुख्य दिनचर्या थी। एडीसन को अखबारों की बिक्री से बहुत थोडी आमदनी होती थी। उधर पिता के व्यवसाय में भोजन छादन के व्यय से अधिक कुछ न बच पाता था। ऐसी दशा में बालक एडीसन ने ट्रेनों पर अखबार बेचना आरम्भ किया। सुबह सात बजे वह अपने काम पर जाते और रात्रि को नौ बजे घर वापस आते थे। इस बीच में उन्हें ग्राण्ट ट्रंक रोड पर कितनी ही जगहों पर समाचार-पत्र बेचने पडते थे। कुछ दिनों बाद एडीसन ने अपना एक साझी खोजकर पोर्ट हरोन पर अखबारों की दूकान खोल ली, पर उसमें विशेष सफलता प्राप्त न हुई और अन्त में वह उठा देनी पडी। इस दूकान को बन्द कर एडीसन एक्सप्रेस ट्रेन पर अख़बार बेचने लगे और साथ ही उन्होंने शाक-भाजी की भी एक दूकान कर ली। इन दोनों कामों से अच्छी आय होने लगी। वह एक डॉलर रोज़ तो अपनी माता को दे देते थे और बाक़ी पूँजी रसायनशाला के अर्पण हो जाती थी।

एडीसन ने अपने इस व्यवसाय में एक बड़े मजे की बात की। अखबार और शाक तो वह ट्रेन में बेचते ही थे, उसमें आपने एक छोटा सा प्रेस भी रख लिया और वहाँ से समाचार-पत्र निकाल दिया, अर्थात् समाचार-सग्रह, सम्पादन, मुद्रण, विक्रय आदि सब कार्य चलती ट्रेन मे ही होते थे। इस अखबार को पढ़कर पाठकों को बड़ा आश्चर्य होता था, तथा सब इस नवयुवक के साहस की प्रशसा करते थे। एक स्टेशन की खबर दूसरे तक छपकर पाठकों के पास पहुँच जाती थी। ट्रेन के समाचार भी उसमे खूब रहते थे। कौन कौन प्रसिद्ध पुरुष ट्रेन में सफ़र कर रहे हैं, उनकी यात्रा के क्या-क्या उद्देश्य हैं, वे कहाँ उतरेंगे और कितने दिनों में वापस आवेंगे? ऐसी अनेकों बातों से एडीसन का अखबार भरा रहता था। अमेरिका में गृह-युद्ध छिड़ जाने से तो ऐसे अखबारों की और भी अधिक पूछ हो गई थी। निदान इस प्रकार कार्य करने मे एडीसन को बड़े आनन्द का अनुभव होता था और वह अपने को प्रगतिशील पाते थे।

विचित्र दुर्घटना

एडीसन को उनके समाचार-पत्र से पचीस तीस डॉलर प्रतिमास मिलने लगे। उधर शाक भाजी और अन्य अखबारों की बिक्री में भी अच्छी उन्नति हुई। अब उन्होंने रसायनशाला भी रेल के डिब्बे में ही बना ली और अपनी तिजारत के साथ साथ रासायनिक द्रव्यों का भी प्रयोग करना शुरू कर दिया। कभी वह

इस बोतल की चीज उसमें मिलाते और कभी उसको दूसरी में उँडेलते। इस धुन में कितने ही दिन बीत गये। एक दिन बड़ी विचित्र दुर्घटना हुई। गाड़ी में अचानक धक्का लगा, जिसके कारण रसायनशाला के फासफोरस के एक टुकड़े ने रेल के तख्ते पर गिरकर उसमें आग लगा दी। आग की सूचना पाकर गार्ड दौड़ा-दौड़ा उस डिब्बे में आया और पानी डालकर आग बुझवा दी। गार्ड की दृष्टि में एडीसन का यह काम बड़ा खतरनाक था, जिसके कारण उसने उसे अगले स्टेशन पर घूँसा मारकर उतार दिया तथा डिब्बे का सारा सामान बाहर फेंक दिया। एडीसन के कान पर गार्ड का घूँसा इस जोर से लगा कि वह कुछ कम सुनने लगे। बहुतेरा इलाज कराया, परन्तु कुछ भी लाभ न हुआ और जीवन भर उन्हें यह कष्ट भोगना पड़ा। एडीसन के कथनानुसार उन्हें बहरा हो जाने के कारण कई प्रकार के लाभ भी हुए। यानी वह तारघर में अपनी मशीन के खटके के सिवा दूसरी मशीन की आवाज न सुन पाते थे, इसलिए उस काम में खूब तबियत लगती और चित्त म उद्विग्नता न आती थी। अस्तु।

पत्र-प्रकाशन और नौकरी

कान पर घूँसा खा तथा बहरा बनकर एडीसन को निराशा नहीं हुई। उन्होंने इस दुर्घटना से डरकर अपना काम नहीं छोड़ा, बल्कि अब वह घर पर पहले से अधिक उत्साह के साथ रसायन-शाला का काम करने लगे और 'वीकली हेरल्ड' (Weekly

Herald) नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। इस पत्र में ऐसे सुन्दर और उपयोगी लेख रहते थे, कि पाठक उन्हें बड़ी रुचि से पढ़ते और अनायास ही ग्राहक बन जाते थे। इस बीच में एडीसन ने इंजन-घर में उसके कल-पुर्जों का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और वह इञ्जन को अपने आप चलाने लगे। इञ्जन चलानेवाले कितने ही लोग उनके मित्र थे। वह उनसे बड़ा प्रेम करते थे और उनकी उन्नति के सदैव अभिलाषी रहते थे, अतएव इञ्जन-कला में दक्ष होने में उन्हें अधिक समय न लगा। रेल के तारघरों में जा-जाकर तार के काम में भी एडीसन ने अच्छी गति कर ली। बिजली-सम्बन्धी बहुतसी बातें भी वह जान गये, और स्वयं अपने मित्र के घर से लेकर अपने घर तक एक तार भी लगा लिया, जिससे दोनो मित्र आपस में बड़ी आसानी से बातचीत करते करते रात का एक बजा देते थे। जब एडीसन ने तार का काम अच्छी तरह सीख लिया और कुछ हिचकिचाहट न रही, तो उन्हें एक फौजी तारघर में जगह मिल गई और वहीं वे रात-दिन रहने लगे। पीछे, फौज के तारघर से रेल के तार मे चले गए। एडीसन ने रेल की सीटी से भाँति-भाँति की आवाजें निकालकर उनके संकेतों द्वारा बातचीत करने की एक विचित्र विधि निकाली। इस प्रकार एडीसन पाँच वर्षों तक इधर-उधर तारघरों में नौकरी करते रहे, उन्हें ४० से १२५ डॉलर तक प्रतिमास वेतन मिलता रहा। रात की ड्यूटी से सब तारवाले घबराते थे, परन्तु एडीसन

सदैव इसी ड्यूटी को पसन्द करते थे, क्योंकि उन्हें रात्रि की शान्ति में नई-नई बातें सोचने समझने का अच्छा अवसर मिल जाता था, और दिन की हाय-हाय से बच जाते थे। कई नौकरियाँ तो उन्हें इसीलिए छोड़नी पड़ीं कि अफ़सर लोगों ने उन्हें प्रार्थना करने पर भी रात की ड्यूटी पर काम न करने दिया।

सिनसिन्नेटी नामक स्थान में नौकरी करते हुए एडीसन की एडेम्स नामक एक सज्जन से मित्रता हो गई। एडेम्स एडीसन की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—"एडीसन १८ वर्ष के दुबले पतले एकान्त प्रेमी नवयुवक थे, वह इधर-उधर नौकरी की तलाश मे घूमते रहते थे। अपने कार्य में वह अपना जोड न रखते थे। तार के काम में प्रथम श्रेणी के माने जाते थे, उनका अधिक समय बैटरियों पर काम करने में ही व्यतीत होता था। वे दु खान्त नाटकों को अधिक पसन्द करते थे, इसीलिए 'ओथेलो' का नाटक उन्हें बहुत पसन्द था। उन्होंने कई बार अच्छी-अच्छी नौकरियाँ छोड दीं और फिर खाने के लिए भी उनके पास कुछ न रहा। ये कितने ही स्थानों में गये, जहाँ पहुँचे वहीं इन्होंने कुछ-न कुछ नई बात कर दिखाने की कोशिश की। यह नई बात अफ़सरों को अच्छी न लगती और इसी पर बिगाड़ होकर एडीसन की नौकरी छूट जाती थी। एक बार लुईविले नामक स्थान में नौकरी करते हुए वे गंधक का तेजाब लेने उस कमरे में गये, जहाँ जाने की आज्ञा न थी। दैवयोग से बोतल उलट गई और तेजाब बहने लगा। सारा फ़र्श खराब हो गया।

जब अफसर को असली हाल मालूम हुआ तो ये बुलाये गये और इनसे कहा गया कि कम्पनी काम करनेवाले नौकर चाहती है, आविष्कारकों की उसे आवश्यकता नहीं है। बस, एडीसन का हिसाब कर दिया गया और वह बेकार हो गये।"

इस नौकरी से अलग होकर एडीसन ने अन्य कई स्थानों पर नौकरियाँ की और सब जगह सफल मनोरथ हुए। इनके पढ़ने-लिखने तथा आविष्कारों की धुन का सबको पता था। वह जहाँ जाते वहाँ इसके लिए इनका मजाक उड़ाया जाता था। एक बार एडीसन बोस्टन में नौकर हुए, यहाँ अयोग्य ठहराने के विचार से इन्हें तार का ऐसा काम दिया गया जिसे उस समय बहुत कम लोग कर सकते थे। परन्तु एडीसन फेल होनेवाले व्यक्ति न थे, उन्होंने उस काम को ऐसी खूबी से किया कि देखनेवाले दंग रह गये। उस दिन से वहाँ के सब काम करनेवालों पर एडीसन की धाक जम गई और सब लोग उनकी प्रतिष्ठा करने लगे। एडीसन, तारघर में काम करते हुए, समाचार-पत्रों की खबर लेने में बड़े घबराते थे। इसलिए नहीं कि वह इन खबरों के लेने में असमर्थ या अयोग्य थे, बल्कि इसलिए कि इन लम्बे समाचारों में बड़ा समय लग जाता था, और उन्हें पढ़ने-लिखने तथा सोचने-विचारने के लिए अवकाश न मिलता था।

एडीसन अपने काम चलाऊ वैज्ञानिक यन्त्रों का खरीदने में कभी सकोच न करते थे। वे खाने-पीने और वस्त्रों में तो किफायत कर लेते थे, परन्तु वैज्ञानिक सामग्री सचय करने में कजूसी करना

शेःहबहुत बुरा लगता था। एक बार मित्रों के अधिक आग्रह से आपने ३० डॉलर व्यय करके एक सूट तैयार कराया, परन्तु जिस दिन उसे पहनकर आप दफ्तर गये उसी दिन उसपर तेजाब पड़ गया, जिससे वह सब जल गया। यह देखकर एडीसन मुस्कराहट के साथ कहने लगे—"ओह! बढ़िया सूट पहनाने का यह फल मिला है।" कभी-कभी वह फैरेडे की पुस्तकों को शाम के चार बजे पढ़ना शुरू करते और प्रातःकाल तक पढ़ते रहते थे। फिर भी उन्हें शिकायत रहती थी कि समय कम है, इस छोटे-से जीवन में कोई क्या क्या करे? काम बहुत और जिन्दगी थोड़ी है। वास्तव में एडीसन अपने समय का एक मिनट भी व्यर्थ बरबाद न करते थे। उनके सारे काम ठीक समय पर यथाविधि होते थे। वह वक्त की क़द्र करना खूब जानते थे।

अभिनव आविष्कार

इतने समय में एडीसन ने कोरे परीक्षण ही नहीं किये, बल्कि कई आविष्कार भी कर दिखाए। बोस्टन में रहकर आपने एक 'वोट लेखक' (Vote recorder) बनाया और सोने का व्यापार करनेवाली कम्पनी के लिए 'स्टॉक टिकर' (Stock ticker) का निर्माण किया। इन दोनों यन्त्रों का प्रचार बहुत जल्द हो गया तथा लोगों के लिए ये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। एक दिन प्रयोग करते समय, भूल से बिजली के दोनों मूठे एडीसन ने पकड़ लिए, जिससे उनके हाथ उनसे चिपक गए। बैटरी से मूठों का सम्बन्ध

विच्छेद करने के लिये उन्होने उन्हे खींचा, तो बैटरी उनके ऊपर गिर पडी और गधक के तेजाब से उनका मुँह जल गया तथा कपडे फट गये। इससे एडीसन को बडी तकलीफ हुई और कई सप्ताह घर में ही पडा रहना पडा। आपने एक दोतरफा तार भी बनाया, जिसके द्वारा एक ही तार से दो खबरें साथ साथ भेजी जा सकें। एडीसन ने छोटे-मोटे ये आविष्कार तो किए, परन्तु इनसे उन्हे लाभ कुछ नही हुआ, आर्थिक-अवस्था दिनों दिन बिगड़ती ही गई। हताश होकर एडीसन ने बोस्टन छोड दिया और आप न्यूयॉर्क आकर गोल्ड इण्डिकेटर कम्पनी में ठहरे। एक दिन कम्पनी के कल-पुरजो मे कुछ खराबी हो गई, वहाँ के कारीगर लोग उसे दुरुस्त न कर सके। सब काम रुक गया और बड़ी हानि होने लगी। एडीसन ने कुछ दिन कम्पनी में रहने के कारण उसकी सारी बातों को अच्छी तरह सोच-समझ लिया था, अत इस खराबी को उन्होने तुरन्त दूर कर दिया और सब मशीनें ठीक ठीक काम करने लगीं। एडीसन की इस चतुराई से कम्पनी का अधिकारी इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इन्हें ३०० डॉलर मासिक पर सब दस्तकारों का मुखिया बनाकर अपने यहाँ नौकर रख लिया। अचानक इतनी अधिक वेतन-वृद्धि से एडीसन को बड़ा आश्चर्य और आनन्द हुआ। अन्य लोगों की दृष्टि में भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ गई। कम्पनी के स्वामी ने एडीसन से 'स्टॉक टिकर' को अधिक अच्छा बनाने की प्रेरणा की तथा इसके लिये उन्हें पर्याप्त धन पुरस्कार-स्वरूप भेंट भी किया। इण्डिकेटर

कम्पनी के सचालक और स्वामी एडीसन की प्रतिभा और मौलिकता से भली भाँति परिचित हो गये थे। वे उन्हे बहुत उपयोगी आदमी समझकर बड़ी प्रतिष्ठा से अपने पास रखते और किसी दशा में भी उनका अलग होना सहन न कर सकते थे। एडीसन ने इन दिनों कई आविष्कार किये और 'स्टाक-टिकर' को भी अधिक उन्नत रूप दे दिया। फिर यह 'टिकर' बहुत उपयोगी चीज हो गया तथा लदन के स्टॉक एक्सचेञ्ज में भी काम में लाया जाने लगा।

थोडे दिन बाद कम्पनी के स्वामी ने एडीसन को पचास हजार डॉलर देकर कहा—"यह धन आपको निश्चिन्त और स्वतन्त्र होकर जीवन बिताने के लिए भेंट किया जाता है। अब आप आराम से एक स्थान पर रहिए और आविष्कार करने की बात न सोचिए। यह धन इसी आशा से दिया जाता है कि अब आप अधिक प्रयोग करने मे अपना समय न लगावेंगे।" एडीसन इतनी धन-राशि पाकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने इसे अपनी योग्यता का अधिक-से-अधिक मूल्य समझा। फिर क्या था, एडीसन पचास हजार डॉलर पाकर एक सम्पन्न व्यक्ति हो गये और उनकी आर्थिक चिन्ता मिट गई। इस समय न्यूयॉर्क में एडीसन की तीन दूकानें चलतीं थीं और उनपर इतना काम था कि पल मारने को भी अवकाश न मिलता था। अब एडीसन की ख्याति बढ चली और उनकी गणना आविष्कारकों में होने लगी। इसके बाद तो एडीसन ने आविष्कारों का ताँता लगा दिया। इस कार्य में उनकी

बुद्धि का इतना विकास हुआ कि १८६९ से १९१० ई० तक उन्होंने छोटे-मोटे १३२८ आविष्कार पेटेंट कराये। एडीसन ने एक ऐसा यन्त्र निर्माण किया जिसके द्वारा न्यूयॉर्क और वॉशिंगटन के बीच एक मिनट में एक हज़ार शब्दों का सन्देश भेजना बहुत साधारण बात हो गई। तार के सामान्य यन्त्रों की गति एक मिनट में ३०-४० से अधिक शब्द भेजने की नहीं है। दूसरा यन्त्र आपने ऐसा निकाला जिससे रोमन लिपि में तार द्वारा अपने आप एक मिनट में ३००० शब्द लिखे जाते थे। आपके द्वारा आविष्कृत स्वयं तार-लेखक (Automatic System) यन्त्र का प्रचार इंग्लैण्ड में बड़े ज़ोर से हुआ। इन आविष्कारों से एडीसन का सुयश दूर-दूर तक फैल गया और उन्हें इन यन्त्रों की बिक्री से यथेष्ट लाभ होने लगा। कभी कभी तो यन्त्रों की इतनी माँगें आ जाती थीं कि उनकी पूर्ति करना कठिन हो जाता था। ऐसे समय में एडीसन अपने कारख़ाने का ताला लगा देते और जब तक पूरा काम न हो जाता, तब तक मज़दूरों को न जाने देते थे।

टेलीफ़ोन और फोनोग्राफ

इन आविष्कारों के बाद एडीसन का ध्यान टेलीफोन की ओर गया। इस यन्त्र का आविष्कार तो मि० बैल द्वारा पहले ही हो चुका था, परन्तु उससे आवाज़ इतनी धीमी निकलती थी कि वह बड़ी कठिनाई से सुनाई पड़ती थी। इस नुक़्स के कारण ऐसे उपयोगी यन्त्र का प्रचार रुका हुआ था। जो कंपनी इसे बनाकर बेचती

थी उसको अधिक लाभ न होता था। जब एडीसन का ध्यान इस नुक्स की ओर आकृष्ट किया गया तो उन्होंने बड़े प्रयत्नपूर्वक उसे दूर कर दिया। अब टेलीफोन की आवाज़ अच्छी तरह सुनाई देने लगी और लोगों ने उसे खरीदना शुरू कर दिया। फिर तो उसका ऐसा प्रचार बढ़ा कि घर-घर में वह लगाया जाने लगा और उसकी उपयोगिता पर सब मुग्ध हो गये। एक कम्पनी के मालिक ने एक लाख डॉलर देकर इस यन्त्र का अधिकार एडीसन से ले लिया। इतने ही डॉलरों में इसी कम्पनी को उन्होंने अपना एक आविष्कार और बेच दिया, परन्तु ये दो लाख डॉलर व्यर्थ खर्च हो जाने के भय से, एडीसन ने एकसाथ न लेकर, प्रतिवर्ष १२००० डॉलर के हिसाब से वसूल किये। इन आविष्कारों के लगभग दो वर्ष बाद एडीसन ने "खड़िया-ग्राहक" (Chalk receiver) बनाये। इनसे बहुत ज़ोर की आवाज़ आती थी। उनका यह आविष्कार तीस हज़ार रुपये में लदन की एक कम्पनी ने खरीद लिया, परन्तु इस यन्त्र का अधिक प्रचार न हो सका। एडीसन ने एक बड़ा अद्भुत यन्त्र बनाया, इसका नाम है 'माइक्रोफ़ोन' (Microphone)। इस यन्त्र द्वारा आवाज़ बढ़ाई जाती है, इसे कान में लगा लेने से एक धीमा शब्द भी बड़े ज़ोर से सुनाई पड़ता है। जिस प्रकार छोटी चीज़ को बड़े आकार में दिखानेवाली खुर्दबीन है, उसी तरह 'माइक्रोफ़ोन' द्वारा धीमी आवाज़ बहुत स्पष्ट और ज़ोर से सुनाई पड़ती है।

एक दिन एडीसन के दिमाग में यह बात आई कि मनुष्यों

की आवाज किस प्रकार सुरक्षित की जा सकती है। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार मनुष्य के रूप का चित्र खींचा जा सकता है, उसी प्रकार उसकी आवाज भी यन्त्र द्वारा सुरक्षित की जा सकती है, और आवश्यकता के समय उसका उपयोग भी किया जा सकता है। वह अपनी इस धुन में लग गये और अन्त में सफल होकर रहे। १८७७ ई० में आपने फोनोग्राफ़ नामक एक यन्त्र बनाया। इस फ़ोनोग्राफ़ का कितना अधिक प्रचार हुआ और इससे संसार को कितना लाभ पहुँचा, यह किसी से छिपा नहीं है। छोटे-छोटे गाँवों में भी फोनोग्राफ़ की मशीनो से लोग तरह-तरह के गाने सुनते और प्रसन्न होते हैं। उनके रैकर्डों में किसी के व्याख्यान या कथोपकथन भी भरे जा सकते हैं, और वह भी सैकड़ों वर्ष सुरक्षित रहते हैं। फोनोग्राफ़ के आविष्कार का सारा श्रेय एडीसन को ही है। पीछे इसमें और लोगों ने भी तरह तरह के सशोधन किये और इसे भाँति-भाँति के रूप दिये हैं। जब पहले पहल इस बोलनेवाले यन्त्र का आविष्कार हुआ, तो एडीसन के मकान पर दूर दूर के दर्शकों के झुण्ड जमा होते रहते थे। लोगों को विश्वास न होता था कि कोई इस प्रकार की भी मशीन तैयार हो सकती है। वे समझते थे कि यह यन्त्र नहीं, कोई चालाकी है, जिसने देखनेवालों की बुद्धि चक्कर में डाल रक्खी है। परन्तु जब एडीसन ने कितने ही दर्शकों की आवाज को ही फोनोग्राफ़ में भरकर फिर उन्हीं के सामने उसे दुहराया, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। एक दिन एक पादरी ने एडीसन के

पास पहुँचकर कहा—'अगर मेरे बोले हुए नामों को आपकी मशीन दुहरा दे, तो मैं समझूँ कि वास्तव में आपका यन्त्र सच्चा है।' एडीसन ने तुरन्त मशीन में उसकी आवाज भरी और फिर उसे उसके सामने ही दुहरा दिया।

यह पादरी शीघ्रतापूर्वक बोलने में बड़ा प्रसिद्ध था, एक साँस में बाइबिल के सैकड़ों नाम बोल गया। उसे आशा न थी कि मशीन उन्हें ज्यों-का-त्यों दुहरा देगी। परन्तु अन्त में एडीसन की प्रतिभा के आगे उसे नतमस्तक हो उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करनी पड़ी। अमेरिका ही में नहीं, सारे संसार में इस मशीन की धूम मच गई थी और न जाने कहाँ-कहाँ से स्पेशल ट्रेनों में भरकर लोग एडीसन का जादू देखने आते रहते थे। जो देखता वही मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता और आश्चर्य से हाथ मलने लगता था। वास्तव में यह आविष्कार था ही इतना आश्चर्यजनक, इसमें जादू ही ऐसा भरा था। उससे पूर्व संसार ऐसे चमत्कार की कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस समय सर्वत्र इसी मशीन की चर्चा होती रहती थी और जिन्होंने इसे नहीं देखा था वह देखने के लिए बड़े लालायित रहते थे। अमेरिका के राष्ट्रपति ने भी एडीसन को अपने पास बुलाया। वह भी उनके फोनोग्राफ को देखकर दंग रह गया और कहने लगा—'वास्तव में एडीसन एक बड़ा शक्तिशाली पुरुष है। उसके मस्तिष्क में परमात्मा ने सचमुच ऐसी दिव्य शक्ति प्रदान की है, जो बहुत कम लोगों को नसीब होती है।'

देश धन्य है जिसमे ऐसे प्रतिभाशाली नर-रत्न पैदा होकर अपनी ज्ञान शक्ति द्वारा संसार का महान् उपकार करते हैं। इतना ही नहीं, आपने विजली की धारा पैदा करनेवाला एक 'डायनमो' नामक यन्त्र भी आविष्कृत किया, जो पहले बने हुए यंत्रो से अधिक उपयोगी और विशेष शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

रेल का इञ्जन भाप से चला करता है, परन्तु एडीसन ने उसे विजली द्वारा चला दिया। पहले आपने अपने मनोरंजनार्थ विजली का एक छोटा-सा इञ्जन बनाया, जिसे देखकर लोग बड़े प्रसन्न हुए। यह इञ्जन एडीसन की रहने की जगह 'मेंएटो पार्क' में चला करता था। पीछे इसमे कुछ गाड़ियाँ भी जोड़ दी गईं, जिनमें बैठकर मुसाफिर सफ़र करने लगे। इस बिजली के इञ्जन का अधिकार उन्होंने एक कम्पनी को दे दिया, जिससे जगह-जगह बिजली की रेल चलने लगी तथा उससे लाभ भी बहुत हुआ। इस आविष्कार से एडीसन का प्रभाव ससार में बहुत बढ गया और बड़े-बड़े विज्ञानाचार्य एडीसन की विचित्र बुद्धि के प्रशंसक बन गए। सब ओर से यही आवाज़ आने लगी—"एडीसन पर परमात्मा की विशेष कृपा है, उनका जन्म ही आविष्कारों के लिए हुआ है, नहीं तो साधारण मनुष्य इस कला में इतना निपुण नहीं हो सकता। एडीसन वास्तव मे आविष्कारक नहीं, जादूगर है, भर को अपने विचित्र बुद्धि-जाल मे फाँस रक्खा

अन्य आविष्कार

चुम्बक द्वारा लौह-चूर्ण से व्यर्थ वस्तुएँ दूर कर असली सामग्री एकत्र करने के लिए भी एडीसन ने कई मशीनें बनाईं, जिनसे पहाड़ों की चट्टानें टूट-फूट और पिसकर आटे के समान बन जाती थीं और फिर उनसे चुम्बक की सहायता द्वारा लोहे के कण इकट्ठे करने में कोई कठिनाई न होती थी। इस आविष्कार से लोहे के व्यापार को बडा लाभ हुआ। जिन लोगों को लौह चूर्ण एकत्र करते समय उसके साथ मिली हुई और भी बहुतसी व्यर्थ चीजें लाकर अनावश्यक रूप से रेल का भाडा देना पडता था, उन्हें भी यह आविष्कार उपयोगी सिद्ध हुआ। तोड फोड का जो काम अन्य प्रकार से महीनों मे होता था, वही एडीसन की कृपा से घण्टों में होने लगा और इस प्रकार धन तथा समय की बहुत बचत हो गई। साथ ही लौह चूर्ण न मिलने का भय भी जाता रहा। इन मशीनों के साफ करने से लौह-कणों के अतिरिक्त और जो कुछ मसाला बच रहता था, वह भी विक जाता था और उससे मकान आदि बनाने में बडी मदद मिलती थी। एडीसन ने जिस जगल में अपना उपर्युक्त परीक्षण किया, उसमें एक सुन्दर नगर बस गया। सैकड़ो लोग वहाँ घर बनाकर रहने लगे। बिजली के प्रकाश की व्यवस्था कर दी गई तथा और भी अनेक सुविधाएँ जुटाई गई। पीछे लोहे की खानें मिल जाने से यह सदुद्योग विशेष सफल सिद्ध न हुआ। खानों से निकला लोहा बहुत सस्ता मिलने लगा, इससे एडीसन का यह

दो उपवन*

काश्मीर का कलेवर प्रकृति के निरुपम सौन्दर्य से अलकृत है। उस अज्ञात विश्व-स्रष्टा की कमनीय कृति नदी-नाले, गिरि शिखर और गहन-वन के स्वरूप मे वहाँ विद्यमान है। वह सौन्दर्य तो अद्भुत है, वर्णनातीत है। उस प्रकृति निर्माता कलाकार ने जहाँ हरे भरे वन, हिम-मण्डित पर्वतमाला और विस्तृत जल-राशि से पृथ्वी को अलकृत किया है, वहीं उसी सौन्दर्य के बीच उपवन का निर्माण करके मनुष्य ने भी अपनी कला का परिचय दिया है। प्रकृति की उस कला के बीच यह मानव-कला उपहासास्पद है क्या? यह तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। परन्तु उन उद्यान प्रेमियों की कलामय अभिरुचि की परिचायिका अवश्य है। प्रकृति अगणित वृक्षों को लगाती है, उन्हें फुलाती है, फलाती है, पर मनुष्य भी अपनी शक्ति के अनुसार उद्यान रचना करके उसमें वृक्ष लगाता है, पौधे लगाता है, लता-वितानों से उसे सुशोभित करता है। उसके उद्योग के फल-स्वरूप जब उस उद्यान में कोई फूल फूलता है अथवा फल फलता है, तब उसे हर्ष होता है, गर्व होता है। उसी हर्ष और गर्व के लिए, उसी अपनेपन के

---

* शालामार और निशात।

अनुभव के लिए, प्रकृति के इस विशाल उद्यान के बीच में भी मनुष्य ने अपने उद्यान का निर्माण किया है।

प्रकृति के उस विशाल उद्यान मे भी यदि कोई अपनापन अनुभव करने लग जाय, वन के एकान्त स्थान मे पुष्पित एक सुमन से भी वही आनन्द प्राप्त करने लग जाय जो अपने निजी उपवन में फूले हुए फूल से किसी को होता हो, तो उसका आनन्द सीमित नहीं रह जाता। वह समस्त ससार के सौन्दर्य को अपना मानने लग जाता है। परन्तु उस असीमित आनन्द के भोक्ता तो दुर्लभ हैं। सभी अपनेपन की छोटी सी सीमा मे कैद हैं। आनन्द के उस निस्सीम साम्राज्य में विचरण करने से उन प्राचीन ऋषि-मुनियों के ससर्ग से, भारतीय सस्कृति में, अपने निजी आनन्द में भी धार्मिक भावो का प्राधान्य हो गया है। अपने उस आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, वह कला है। भारतीय कला धार्मिक भावों से विहीन नहीं है जिस प्रकार भारत की अन्य कलाओं को हमें देखना चाहिए, उसी प्रकार उद्यान निर्माण की कला का भी अवलोकन करना चाहिए।

ऐतिहासिक घटनाओं का जैसा और जितना प्रभाव भारत की अन्य कलाओं पर पड़ा है, वैसा ही प्रभाव उद्यान-रचना की कला पर भी पड़ा है। बहुत प्राचीन काल से भारत में उद्यान-रचना का प्रेम पाया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में उद्यानों का यत्र तत्र उल्लेख मिलता है। सस्कृत-नाटकों में तो उपवन के दृश्यों

फिर दूर-दूर से काश्मीर-यात्रा के लिए आनेवालों के आकर्षण का कारण बन गया है।

शालामार शाही बाग था। वह तीन भागों में विभक्त था। बाहरी प्रागण आम लोगों के लिए खुला था। बीच का प्रागण बादशाह का निजी निवास-स्थान था और पीछे का तीसरा सबसे अधिक सुन्दर प्रागण खास बेगमो का विहार-स्थल था। बाग की लंबाई-चौडाई ५९० और २६७ गज है। इस प्रकार यह विशाल उद्यान तीन भागों मे विभक्त बहुत ही सुन्दर ढग से लगाया गया है।

मुगलों के जमाने के बगीचों की विशेषता उनके पेड-पौधों के सौन्दर्य में ही नहीं है, पर बगीचों के फव्वारों और जल-प्रपातो में और भी अधिक आकर्पण समाया हुआ है। दिल्ली और आगरे के मुगलों के समय के बगीचो मे भी फव्वारो का प्राधान्य पाया जाता है। स्वत चलनेवाले फव्वारो की पक्ति-की पक्ति प्राय सभी मुगल-बगीचो की सौन्दर्य वृद्धि का काम करती हैं। काश्मीर के शालामार में तो इन फव्वारों का कहना ही क्या? सैकडों फव्वारे उद्यान की शोभा बढा रहे हैं। और उमसे भी अधिक शोभा उन कृत्रिम जल प्रपातों की है जो बाग के ऊपर की ओर से बहती हुई नहर से बने हैं। हरवन झील से एक नहर निकाली गई है। वह बाग के पीछे पहाड की ऊँचाई पर से बहकर आती है, वहाँ से नहर का पानी उद्यान के बीचोंबीच बहनेवाली जल-धारा में आता है। स्थान-स्थान पर ऊँचाई से गिरने और फव्वारों को

घेरकर बहने के कारण उद्यान की शोभा अद्वितीय हो गई है। फव्वारों और जल धाराओं से बगीचों को सजाने का ढंग मुगलों के द्वारा भारत ने पारस्य देश से सीखा है। पारस्य देश का उद्यान प्रेम तो फ़ारसी-साहित्य में भले प्रकार वर्णित है। मुगलों के द्वारा भारत में उनकी उद्यान कला का बहुत कुछ प्रचार हुआ है। भारत के प्राचीन उद्यानों पर उनकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

अन्य मुग़ल उद्यानों की भाँति शालामार की इमारतों के कुछ भग्नावशेष पाये जाते हैं। सम्राट् जहाँगीर काश्मीर-यात्रा में इस उद्यान में रहता था। उसके निवास के लिए उस समय भव्य भवन बने ही होंगे। शालामार की बारहदरी इसके प्रमाण-स्वरूप अब तक मौजूद है। उद्यान के बाहरी प्रांगण के उस ओर दीवान-ए-आम है। दीवान-ए-आम के बीचोंबीच भी ऊपर से आती हुई जलधारा बहती और भवन के इस ओर ऊँचाई पर से नीचे के कुण्ड में गिरती है। जलधारा के बीच में अब भी काले संगमरमर का शाही तख्त रखा है। इसी बाहरी प्रांगण में एकत्रित होकर जन-समुदाय सम्राट् का दर्शन किया करता था।

नीचे के प्रांगण में दीवान-ए-खास बना था, पर अब वह नष्ट हो गया है। केवल उसकी नींव मात्र रह गई है। चारों ओर फव्वारों से वेष्टित एक सुन्दर चबूतरा भी अब तक है। आगे की दीवाल के पास शाहजहाँ की बनाई हुई काले संगमरमर की एक बहुत ही सुन्दर बारहदरी है। शाहजहाँ अपनी भवन निर्माण-कला के लिए जग प्रसिद्ध है। इस बारहदरी में भी उसकी यह अभिरुचि भले

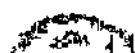
प्रकार व्यक्त है। हरे-भरे सुविशाल वृक्षों से आच्छादित और धवल जलधार और फव्वारों से वेष्टित गहरे काले चमकते हुए पत्थर की बनी हुई यह बारहदरी अद्भुत शोभा का घर हो गई है। चाँदनी रात में उद्यान के इस भाग की शोभा तो अलौकिक रहती है। पुराने जमाने में सामने के जल प्रपात के पीछे की दीवाल के आलो में जब सैकड़ों रंग-बिरंगे दीपक जला दिये जाते थे तो उसका सौन्दर्य कैसा रहा होगा? हम लोगों ने तो सूर्य के प्रखर प्रकाश में ही वह दृश्य देखा था। चाँद के शीतल अथवा दीप माला के विविध वर्ण के प्रकाश से आलोकित दृश्य तो कल्पना का ही विषय है। अब भी थोडे वर्ष पहले तक उन आलों में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था थी, पर न जाने अब क्यो नहीं है?

यह रमणीय उद्यान अपने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों के कारण और भी अधिक चित्ताकर्षक हो गया है। उद्यान के पीछे की ओर महादेवगिरि के उच्च शिखर हैं। सामने डल झील के विशाल पाट मे, उसके उस ओर खड़ी पीरपजाल श्रेणी की हिम-मण्डित गिरि माला झाँक रही है। पहाड और झील के बीच का स्थान चुनकर उद्यान-निर्माताओं ने सचमुच अपने कौशल का परिचय दिया है। उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर, उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्प-राशि पर और महादेवगिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमल-वन पर, खिली हुई चाँदनी को देखने मे कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है। एकसाथ उस सर्वशक्तिमान्

की कला का और मनुष्य की परिमित शक्तियों से उद्भूत कला का आनन्द लाभ करने का यह साधन मुगलों के—अथवा उनसे भी पहले के उद्यान निर्माताओं के—कला-प्रेम का द्योतक है।

मुगल सम्राटों के उद्यान-प्रेम के साथ-ही-साथ उन शाही दम्पतियों की प्रेम क्रीडा भी वहाँ भले प्रकार अंकित है। मुगल सम्राट् जहाँगीर और उसकी जगत्प्रसिद्ध पत्नी नूरजहाँ ने अपने आमोद-प्रमोद के लिए इस उद्यान की रचना की थी। शाहजहाँ ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसमें वृद्धि करके इसे और भी अधिक सुन्दर बना दिया था। उन्हीं जल-प्रपातों और फव्वारों के समीप कोमल दूब पर बैठकर शाही दम्पति आमोद-प्रमोद किया करते थे। उसी दीवान ए-आम के उस काले तख्त पर भारत के भाग्य-विधाता बैठते थे। अब यहाँ उसी बाग में घूमने पर इन सब बातों को विचारने पर कितना कौतूहल होता है? जहाँगीर उठ गया, वह अलौकिक सुन्दरी नूरजहाँ भी काल के गाल में विलीन हो गई, उनके प्रेम की गाथा केवल इतिहास की बात रह गई, उनके आमोद प्रमोद के वे स्थल भी जीर्ण शीर्ण होने को आये, वे मनोहारी फव्वारे भी अब बुढापा बिता रहे हैं, संगमरमर के बने उन विहार-स्थलों में से कुछ विदा ले चुके और कुछ लेने के लिए तैयार बैठे हैं, परन्तु पीछे का वह गिरिशृङ्ग, सामने की वह विशाल डल झील अब भी उसी प्रकार अपने अमर सौन्दर्य पर हर्षित हो रही है, पुलकित हो रही है।

निशात भी शालामार की भाँति डल झील के तट पर स्थित



एक दूसरा रमणीय और नयनाभिराम उद्यान है। शालामार सम्राज्ञी नूरमहल का क्रीडा-स्थल था। दूसरी ओर नूरमहल के भाई आसफखाँ ने अपने लिए निशात बाग बनाया था। निशात मुगल-जमाने के बागों मे सबसे अधिक सुन्दर है। एक निजी उद्यान होने के कारण इसके अलग-अलग प्रागण नहीं बनाये गये हैं। पीछे के पर्वतों की चढाई के अनुसार बारह चबूतरे एक के ऊपर एक बनाये गये हैं। उद्यान के बीच मे से बहती हुई जल-धारा इन बारह स्थानों पर गिरती हुई बहती है। शालामार की भाँति यहाँ जल ऊपर से गिरता नहीं, पर विविध प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर बहता है। शालामार के जल प्रपातों में अपना निराला आकर्षण है, तो निशात के इस प्रवाह में भी अद्भुत सौन्दर्य है। शालामार की भाँति यहाँ भी अनेक फव्वारे जल-कुडो में चलते रहते हैं। जलस्रोत और उन फव्वारों के अविरल प्रवाह से उद्यान में एक नवजीवन सा व्याप्त रहता है। उन विविध प्रकार के लता-वितानों और पुष्प राशि की शोभा तो कहना ही क्या ?

आसफखाँ के इस उद्यान को सवन् १६९० में शाहशाह शाह-जहाँ ने देखा था। उद्यान के भव्य सौन्दर्य और पीछे की पर्वत माला और सामने की झील के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर शाहजहाँ इस निर्णय पर आया कि ऐसे उद्यान के आनन्दोपभोग का सौभाग्य केवल सम्राट् को ही होना चाहिए, किसी साधारण व्यक्ति का उसपर अधिकार नहीं हो सकता, चाहे वह उसका प्रधान मन्त्री अथवा निकट का सम्बन्धी ही क्यों न हो ? बादशाह ने बहुत बार

अपनी इच्छा प्रकट की कि यह उद्यान उसे भेंट कर दिया जाय, परन्तु आसफ़ख़ाँ को अपना बगीचा इतना प्रिय था कि वह उसके लिए बादशाह की प्रसन्नता की ओर भी ध्यान नहीं देता था। शाहजहाँ ने एक दिन क्रोधित होकर निशात बाग का पानी बंद करवा दिया। शालामार और निशात को हरवन से आनेवाली एक ही नहर से पानी मिलता है। जल के बिना आसफ़ख़ाँ के उस प्रिय उद्यान की अवस्था ख़राब होने लगी। पानी के अभाव में वह जलधारा और फव्वारे जब निर्जीव-से दिखाई दिये होंगे, तो आसफ़ख़ाँ को कितना दुःख हुआ होगा? आजकल भी केवल रविवार को ही शालामार और निशात की जलधाराओं और फव्वारों में पानी छोड़ा जाता है। बाकी दिनों में तो वे निर्जीव-से ही दिखाई देते हैं।

बादशाह के क्रोध से जल के अभाव में बाग की हीन दशा देखकर आसफ़ख़ाँ बहुत दुःखी हुआ, पर एक दिन अकस्मात् सब फव्वारों और जलधारा में कलकल स्वर होने लगा। सारा उद्यान फिर से सजीव हो गया। जलधारा में खुदे हुए पत्थरों पर विविध प्रकार की लहरें फिर दिखाई देने लगीं। आसफ़ख़ाँ के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

उद्यान के सच्चे प्रेमी अपने मालिक को दुःखी देखकर अपनी जान को जोखिम में डालकर बादशाह के हुक्म के विरुद्ध माली ने पानी खोल दिया। बादशाह इस घटना से और अधिक नाराज़ न होकर खुश ही हुआ। आसफ़ख़ाँ के उद्यान-प्रेम को वह

लग जाती है। बगीचों के आगे दुकानें लग जाती हैं। केवल बाहर से आनेवाले यात्रियों का ही नहीं, पर काश्मीर-वासियो का भी अच्छा जमघट वहाँ देखने को मिल जाता है।

रविवार की भीड में शान्ति-प्रिय लोगों को उद्यान का उतना आनन्द नहीं मिल सकता। जनरव से पूर्ण वातावरण की अपेक्षा पक्षियो की कोमल स्वर-लहरियों से पूरित वातावारण कहीं अधिक आकपर्क होता है। मनुष्य के अपने आडम्बरमय दिखाव की अपेक्षा प्रकृति का वह दिखाव कहीं अधिक मनोमोहक होता है। यह तो अपनी-अपनी अभिरुचि की बात है। उद्यान में खिले हुए गुलाबो के साथ ही साथ नव-युवतियो का समूह, विविध वर्ण की पुष्प-राशि के साथ ही साथ रङ्ग-विरङ्गे वस्त्र, और पक्षियों और जलस्रोत के कलरव के साथ ही साथ कल-कण्ठियो के श्रुति-मधुर स्वर भी लोगो के आकर्षण का कार्य करते हैं।

काश्मीर में अब भी तीन पुष्पोत्सव मनाये जाते हैं। तीनों उत्सवों पर इन उद्यानों की शोभा देखने लायक होती है। अगणित पुष्पो के साथ ही साथ अगणित नर-नारियों के समुदाय से ये उपवन खिल उठते हैं। शालामार बाग गुलाबो का घर है। जब गुलाब पूर्ण रूप से खिलते हैं, तो पुष्पोत्सव का—गुलाबों का—मेला वहाँ लगता है। सुविशाल चिनार वृक्षों की छाया में कोमल दूब के हरित आसन पर बैठकर काश्मीरी परिवार हँसी खुशी समय बिताते रहते हैं। ऊपर वृक्षों में पक्षियों का कलरव होता रहता है,

सामने झरनों और फव्वारों का। हुक्के और चायदान—सामावार—की आग बुझती ही नहीं। गुलाबी, लाल अथवा हरे गहरे रङ्ग के लम्बे-लम्बे चोगे पहनकर, बालों की लटों को एक सफ़ेद वस्त्र से ढककर, पुष्पों से प्रतिद्वन्द्विता करनेवाले नारी-समुदाय का और नन्हें बालकों का दृश्य अनोखा होता है। पर जो उद्यानों के वास्तविक सौन्दर्य का प्रेमी है, वह तो एकान्त और शांत समय ही ढूँढेगा। एक-एक मुकुलित पुष्प के समीप खड़े होकर उसके साथ मुस्कुराने के लिए, एक फव्वारे की कलकल ध्वनि के साथ अपने आनन्द की मौन-ध्वनि का सम्मिश्रण करने के लिए तो उसे नीरव वातावरण की ही आवश्यकता होगी। उद्यान का आनन्द लेने के लिए वह उसके एक कोने से दूसरे कोने तक हवा की भाँति नहीं उड़ेगा। मन भरकर उसका अवलोकन करने से ही उसे वास्तविक आनन्द आवेगा। सच्चे उद्यान प्रेमी वहाँ अच्छी संख्या में प्रतिदिन देखे जाते हैं।

शालामार और निशात के सामने उस विशाल डल झील का वक्षस्थल कमल के पत्तों और पुष्पों से आच्छादित हो जाता है। उपवन गुलाबों से भरे-पूरे रहते हैं। उस समय का दृश्य कितना सुन्दर होता है। झील कमलवन में परिणत हो जाती है। उद्यान में गुलाब के पौधे नहीं, पर पेड़ और लताएँ फूलों से लद उठती हैं। गुलाब का एक पेड़ हम लोगों ने देखा था। उसका तना करीब डेढ़ फुट मोटा था। फूलों के बोझ को उठाने के लिए उसके नीचे एक लकड़ी का फ्रेम लगाना पड़ा था। हिन्दुओं का



प्रिय कमल और मुसलमानों का प्रिय गुलाब दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण होता है। बाल-सूर्य के उदय के पहले शिकारे* में बैठकर उस कमल वन को पार करके उद्यान में पहुँचकर उस दृश्य की वास्तविक शोभा का आनन्द-लाभ किया जा सकता है। जल से दो-तीन हाथ ऊँचे उठते हुए पत्तों और फूलों के बोझ से झुके हुए कमल नाल देखकर कौन आनन्द-विमुग्ध न होगा? सूर्य की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ वे अगणित कमल-दल प्रस्फुटित हो उठते हैं। मुगल अथवा उनसे भी पहले के हिन्दू राजाओं के द्वारा निर्मित इन उद्यानों में भारतीय कला के स्वरूप का अवलोकन करने का रहस्य इस बात में बहुत कुछ निहित है।

इन उद्यानों की इसी शोभा से आकर्षित होकर तो एक कवि ने कहा है—

सुबह दर बागे निशातो शाम दर बाग नसीम।
शालामारो लालाज़ारो सैरै कश्मीरस्तो बम्॥

कवि की इन पक्तियों में इन उद्यानों का कितना महत्त्व प्रकट होता है। उसकी दृष्टि में काश्मीर में इनसे अधिक आनन्दमय स्थान और कोई है ही नहीं। कवि की दृष्टि मे और बहुतसे लोगों की दृष्टि में ऐसा हो सकता है। पर जिन्हे इन अप्राकृतिक उद्यानों की अपेक्षा नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रेम है, वे इन दोनों उद्यानो से दूर श्रीनगर से ११ मील की दूरी पर हरवन झील के तट पर पहुँचे

* एक छोटी नौका —सम्पादक

बिना नहीं रहेंगे। शालामार और निशात की जलधाराओं में बहुत कुछ अप्राकृतिक सौन्दर्य है, पर हरवन झील से निकाले गये उस जलस्रोत में स्वाभाविक सौन्दर्य है। तीन ओर ऊँचे गिरिशिखरों के बीच एक सुविशाल झील है। एक ओर बाँध बना कर झील का पानी रोक दिया गया है। इसी बाँध में से वह जलस्रोत बहा है जो शालामार और निशात तक गया है।

समुद्र के समान फेनिल लहरें मारता हुआ और गर्जन करता हुआ यह नाला अविराम गति से बहता रहता है। सुविशाल देवदारु और चिनार के वृक्षों से आच्छादित तट प्रदेश पर बैठकर अथवा बाँध के ऊपर झील के तट पर बैठकर प्रकृति सुख का उपभोग किया जा सकता है। इस जलस्रोत के दाहिनी ओर एक दूसरा नाला भी है। वह भी उसी की भाँति आकर्षक और दर्शनीय है। शालामार और निशात में बैठकर यदि मानव-कला की सुखानुभूति की जा सकती है, तो इस हरवन में तो उस कुशल कलाकार के कौशल का वह परिचय मिलता है जो अगम्य है। काश्मीर तो उसकी कला की प्रदर्शिनी है। उसकी कला में उसका अवलोकन करने के लिए ही शायद प्राचीन समय में साधु सन्यासी और बौद्ध भिक्षु इस स्थान में वास किया करते थे।

—श्रीगोपाल नेवटिया



मातृभूमि*

जिसके भाल पर काश्मीरजन्मा कुंकुम-केसर का तिलक है, जिसके हृदय पर जह्नु-तनया की एकावली है, जिसके चरणों में भक्ति-भाव से अवनत सिंहल प्रणाम करता है, जिसके चरणामृत का महोदधि नित्य पान करते हैं—उस माता के स्वरूप को जानने की किसे इच्छा न होगी? जिसके रक्षक स्वयं शैलराज हिमवन्त हैं, जहाँ सरस्वती की शाश्वत धारा प्रवाहित है, जहाँ सिन्धु और ब्रह्मपुत्र शैलराज के अमृत सदेश को अगाध सागर के समीप मन्त्रणा के लिए ले जाते हैं, जहाँ मरुस्थल और दण्डकारण्य जैसे विशिष्ट प्रदेश हैं—वह भूमि किस नाम से विश्रुत है?

जिसमें वेत्रवती, सुवर्णरेखा और ताम्रपर्णी जैसे सुन्दर नामवाली नदियाँ हैं, जिसमें काची, द्वारावती, विशाला और मथुरा

---

* पहले-पहल यह निबन्ध 'माधुरी' वर्ष ६, खंड १, पृ० २६२-७१ में प्रकाशित हुआ था। गद्य-रत्न-माला में इसे प्रकाशित करने का निश्चय होने पर इसके विद्वान् लेखक ने इसका परिशोधन आवश्यक समझ इसे संशोधित कर मुद्रणार्थ भेजा है। तदनुसार यहाँ यह परिशोधित रूप में छापा गया है।

—सम्पादक

जैसी राजधानियाँ हैं, जहाँ आदि-कवि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के पुण्यश्लोक चरित्र का गान किया है, जहाँ आर्ष ज्ञान का प्रथम स्फुरण हुआ, जिसमें दौष्यन्ति भरत ने समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एक-छत्र शासन किया—वही हम सबकी जन्मभूमि भारतमही है।

इसके उत्तर में गिरिराज हिमालय पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश को व्याप्त करके पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है। यहीं गौरीशकर और धवलगिरि सदृश तुग गिरिशिखर हैं, जहाँ नित्य प्रभात के समय सूर्य-रश्मियाँ सुवर्ण-जल से हिमाचल को स्नान कराती हैं। जब तक पृथिवी पर गगा-यमुना की वारिधाराएँ हैं, तब तक उन्नत गौरीशकर की महिमा प्रख्यात रहेगी। यहीं के एक आश्रम में यौवनोन्मेष के समय आभूषणो के स्थान पर वल्कल पहनकर पर्वतकुमारी ने अखण्ड तप समाधि के द्वारा शिव को प्राप्त किया था, जिसके कारण इस गिरिशृङ्ग की सज्ञा आज तक गौरीशकर प्रसिद्ध है। इसी पर्वतराज को अर्वाचीन युग में बगाल के एक सुपुत्र सिकदर महोदय ने वैज्ञानिक जगत् के समक्ष विज्ञापित किया था।

हिमालय के एक प्रदेश में ही मानसरोवर और राक्षसताल हैं। मानस की अध्यात्म-महिमा को मातृ-भाषा के अनेक कवियों ने गाया है। यहीं कैलाश के उत्सग में अलकापुरी बसती है, जहाँ के कान्ता विश्लेषित यक्ष ने श्रावण मास मे मेघ को दूत बनाकर भेजा था। यहाँ सरल और देवदारु के वृक्ष हैं, यह आज तक किन्नरो की निवास-भूमि है, अक्षोट के विटप इसी प्रदेश में होते

हैं, जिनके गर्भ में हिम से त्रस्त उष्णता छिपकर शरण लेती है। इन वनों में कृष्ण मृग स्वच्छन्द विचरते हैं। इन कन्दराओं में वन-केसरी निवास करते हैं। यहाँ के तपोवनों मे कपिला धेनु ऋषियों के साथ रहती हैं—ये देवभूमियाँ अनन्त समय तक भारत के पुत्रों को संयम का पाठ पढाती रहेंगी।

यहाँ नाना प्रकार की वीर्यवती ओषधियाँ होती हैं। शिलाजतु का जन्म यहीं होता है। अनन्त रत्नों के प्रभव स्थान इस प्रदेश में ज्योतिष्मती ओषधियों के रूप में बिना तैल के प्रदीप जलते हैं। वेदों और उपनिषदों के लिखने योग्य भूर्जत्वच् यहीं होता है। यहाँ की चमरी गाएँ हिम के सदृश सान्द्र दुग्ध देती हैं। यह हिमवन्त आर्ष सभ्यता का अमर गोप्ता है। यहीं त्रिविष्टप भूमि है। यहीं उत्तर कुरु प्रदेश हैं, जिनके उत्तर में रम्यक और हिरण्यक वर्षों का विस्तार है।

वह देखो, भारत का भाल काश्मीर प्रदेश सुशोभित है, जिसके लिए कवि विल्हण ने कहा है—

'सहोदरा कुंकुमकेसराणा भवन्ति नून कविताविलासा ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषा यदन्यत्र मया प्ररोह. ॥'

अर्थात् शारदा देश काव्य और केसर का सनातन प्रभव-स्थान है। इस देश के उत्तर में निषध पर्वत है, जिसके दूसरी ओर वक्षु और कपिशा नदियाँ हैं। किसी समय आर्य साम्राज्य का विस्तार वहाँ तक था। काश्मीर खण्ड की राजधानी श्रीनगर की स्थापना

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने की थी। भाष्यकार पतञ्जलि की जन्मभूमि गोनर्द यहीं है। कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव यहीं हुए हैं। व्याकरण, साहित्य और शैव सिद्धान्त-रूप शास्त्र त्रिमूर्ति के युगपद् विलास की साक्षी यही काश्मीर भूमि है। नीलमत पुराण के रचयिता नील मुनि और राजतरंगिणी के लेखक कल्हण यहीं हुए हैं। मनु-भाष्य के रचयिता मेधातिथि ने यहीं जन्म लिया था। छविल्लभट्ट, हेलाराज, जोनराज, राजानक रुय्यक, बिल्हण, जल्हण, क्षेमेन्द्र, मख आदि कवियों के हृदय में मानों काश्मीर की प्रतिभा एकसाथ ही स्फुरित हो उठी। काव्य-प्रकाशकार मम्मट और वैयाकरण शिरोमणि कैयट ने काश्मीर की ही पुण्य-भूमि को अलङ्कृत किया। यहीं जम्मू के समीप एक पर्णशाला में बैठकर कापिष्ठिल वसिष्ठ-गोत्री श्रीदुर्गाचार्य ने यास्कीय निरुक्त पर प्रसिद्ध ऋज्वर्था नामक वृत्ति की रचना की। इस काश्मीर के नर-रत्न अभी तक भारत के मस्तक को ऊँचा बना रहे हैं। यहाँ के जल-वायु का माहात्म्य विश्व विश्रुत है।

काश्मीर के बीच से सिन्धु नद बहता है। सिन्धु के उस पार केकय और गान्धार देश हैं। पुरायुग से लेकर आज तक ये प्रदेश श्वेती, कुभा, क्रुमु और गोमती आदि नदियों के द्वारा अपनी जलराशि सिन्धु को अर्पित करते रहे हैं। इसी परोपनिषद् भूखण्ड को मौर्य्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यवनी†-राजलक्ष्मी के साथ सिल्यूकस से छीन लिया था। यहीं सिन्धु के समीप तक्षशिला नगरी है,

† यह शब्द यूनानियों (ग्रीकों) का सूचक है। —सम्पादक

हैं, जिनके गर्भ मे हिम से त्रस्त उष्णता छिपकर शरण लेती है। इन वनो में कृष्ण मृग स्वच्छन्द विचरते हैं। इन कन्दराओं में वन-केसरी निवास करते हैं। यहाँ के तपोवनो में कपिला धेनु ऋषियों के साथ रहती हैं—ये देवभूमियाँ अनन्त समय तक भारत के पुत्रों को सयम का पाठ पढाती रहेगी।

यहाँ नाना प्रकार की वीर्यवती ओपधियाँ होती हैं। शिलाजतु का जन्म यहीं होता है। अनन्त रत्नों के प्रभव स्थान इस प्रदेश में ज्योतिष्मती ओपधियों के रूप में विना तैल के प्रदीप जलते हैं। वेदों और उपनिपदो के लिखने योग्य भूर्जत्वच् यहीं होता है। यहाँ की चमरी गाएँ हिम के सदृश सान्द्र दुग्ध देती हैं। यह हिमवन्त आर्य सभ्यता का अमर गोप्ता है। यहीं त्रिविष्टप भूमि है। यहीं उत्तर कुरु प्रदेश हैं, जिनके उत्तर में रम्यक और हिरण्यक वर्षों का विस्तार है।

वह देखो, भारत का भाल काश्मीर प्रदेश सुशोभित है, जिसके लिए कवि विल्हण ने कहा है—

'सहोदरा कुकुमकेसराणा भवन्ति नून कविताविलासा ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषा यदन्यत्र मया प्ररोह' ॥'

अर्थात् शारदा देश काव्य और केसर का सनातन प्रभव-स्थान है। इस देश के उत्तर में निपध पर्वत है, जिसके दूसरी ओर वक्षु और कपिशा नदियाँ हैं। किसी समय आर्य साम्राज्य का विस्तार वहाँ तक था। काश्मीर खण्ड की राजधानी श्रीनगर की स्थापना

समीप देहली है, जो मदोद्धत नृपतियों को विनाश-क्षेत्र में भेजने के लिए सचमुच ही भारत का देहली-द्वार रहा है।

पजाब प्रदेश मे ही कठो का गण-राज्य था, जहाँ कठोपनिषद् की रचना हुई। यहीं के एक तप पूत ब्रह्मचारी ने मृत्यु और अमृत के प्रश्नों पर गहन विचार किया था। यहीं मालव और क्षुद्रक गणों के राज्य थे—वे मालव, जिनके विपाक्त तीरों ने यवनराज सिकन्दर को मरणोन्मन्न बना दिया था, और वे क्षुद्रक, जिन्होंने अपने अमोघ शस्त्रों के प्रताप से अकेले ही यूनानी-सेना को परास्त करके सिकन्दर को सन्धि करने पर बाध्य किया था। यहाँ कैसे-कैसे पराक्रमी योद्धा थे। तीन-तीन गज लम्बे तीरों से लड़नेवाली काल के समान भयकर पदाति-सेना इसी भूमि में विचरती थी। यहीं शिवि और आरट्टों के गण-राज्य थे, जिनके विशीर्ण खँडहर अब भी प्राचीन वैभव का स्मरण दिलाते हैं। यहीं सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच में ब्रह्मावर्त प्रदेश में सामवेद का मधुर गान होता था।

इसी पजाब प्रदेश के सुपुत्रों ने अनन्त बार अपने रक्त की आहुति देकर भारत के मान-गौरव की रक्षा की है। क्यो माता! क्या प्रसिद्ध बलि-वेदि अमृतसर इसी प्रदेश में है? हाँ, देवी को असाधारण भेंट चढानेवाले गुरु गोविन्दसिंह के स्थान को छोड़कर और कौन स्थान उसके उपयुक्त हो सकता है। इन्हीं पाँच नदियों के बीच घूम-घूमकर गुरु नानक ने एक ईश्वर का गुण-गान किया था। फिर दो शताब्दी बाद इसी प्रदेश में वीर बैरागी बन्दा ने शोणित-

जहाँ के विश्वविद्यालय में महाराज बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने, जो कौमारभृत्य-शास्त्र के निष्णात पंडित थे, सात वर्ष तक शिक्षा पाई थी। यहीं चरक ने आयुर्वेद के अष्टांगों का निरूपण किया तथा महामुनि सुश्रुत ने शल्य-शास्त्र के सूक्ष्म प्रयोग किए। सिन्धु तट के शालातुर ग्राम में जन्म लेकर दाक्षीपुत्र भगवान् पाणिनि ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पाकर अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की। जब तक संसार में विज्ञान का अस्तित्व है, तब तक आर्य जाति के इस विराट् मस्तिष्क के प्रति मनीषियों की श्रद्धाञ्जलि अर्पित होती रहेगी। मातृभूमि के स्वरूप का दर्शन करनेवालो! इस तक्षशिला नगरी को प्रणाम करो! यहाँ के इगुदी वृक्ष धन्य हैं, जिनके तेल से पाणिनि ने अध्ययन किया।

जिसके क्रोड में हिमालय की पाँच पुत्रियाँ कल्लोल करती हैं, वह पंजाब देश है। वितस्ता, चन्द्रभागा (असिक्नी), इरावती (परुष्णी), शुतुद्रु और विपाशा—पाँचों पाँच उँगलियों की तरह फैली हुई हैं। यहीं असिक्नी नदी के तीर पर सम्राट् सुदास का दस राजाओं के साथ घोर संग्राम हुआ था। वितस्ता के तीर पर वीर-केसरी महाराज पुरु ने यवन-सम्राट् सिकन्दर का रण-प्राङ्गण में आह्वान किया था। शुतुद्रु के तीर पर चींटियों की तरह फैली हुई हूण-सेना को दुर्दान्त महाराज स्कन्दगुप्त ने परास्त करके भारतीय सभ्यता की रक्षा की। यहीं धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है, जहाँ अनेक बार विधाता ने भारत के भाग्य-अकों को मेटकर फिर लिखा है। इसी के

इतिहास की घटनाएँ आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व घटित हुई थीं। शान्तनु-पुत्र सनातन ब्रह्मचारी गांगेय भीष्म यहीं रहते थे। इसी के दक्षिण में द्वैत वन था, जहाँ राज्यश्री विहीन पाण्डवों ने कुछ समय तक निवास किया था। यहीं स्थाण्वीश्वर के सम्राट् यशोमती-पुत्र महाराजाधिराज हर्षवर्धन ने विक्रम की छठी शताब्दी में धर्म-राज्य स्थापित किया। यहाँ की धूलि के कण-कण में माता का सौरभ मिला हुआ है।

यमुना नदी के तट पर खड़े होकर देखने से दाहिने हाथ की ओर विशाल राजस्थान है और बाईं ओर संयुक्त प्रान्त। ऐसा प्रतीत होता है मानों सूर्य की दुहिता क्षात्रधर्म और ब्राह्मण-धर्मों के बीच की सीमा बना रही है। जिस राजस्थान की महिमा का पार चन्द और सूरजमल की लेखनी भी पूरी तरह न पा सकी, वहाँ के क्षात्रधर्म का सम्पूर्ण चित्र कौन खींच सकता है? जब सरस्वती नदी समुद्र तक बहती थी, उस ब्रह्म युग में यह मरु-भूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। विधाता के विशेष प्रसाद से वीर रस ने अपने निवास के लिए इस भूखंड को सागर गर्भ से प्राप्त किया था। यहाँ के रण-बाँकुरे नर पुंगवों और आर्य-देवियों के उदात्त चरित्रों का गान करके कविगण अनन्त काल तक अपनी लेखनी को पवित्र करते रहेंगे। यहाँ का प्रत्येक स्थान एक-न-एक वीर की कीर्तिगाथा से सम्बद्ध है। यहाँ पद पद पर आर्य-देवियों [illegible] । मे सनातन सतीत्व की रक्षा के लिए हँसते- [illegible] इसके अर्बुद पर्वत की दुर्गम घाटियों

तर्पण की प्यासी तलवार को दुर्विनीत यवनो के विरुद्ध धारण किया। जिस स्थान पर चिडियों से बाज मारे गये, उस भूखड को माता गौरवपूर्वक अपने वक्ष पर धारण करती है।

इस प्रदेश के उत्तर-पश्चिम दिगन्तर मे पुरुषपुर है, जहाँ अनेकों बार भारत के पौरुष की परीक्षा हुई है। यहीं पर राजा आनन्द-पाल ने असख्य हिन्दू-सेना लेकर यवनों* को चालीस दिन तक मृत्यु-पाश में बाँध रक्खा था। इसी के निकट की पर्वत उपत्यकाओं में प्राचीन केकय देश के वंशधर पुरुष-सिंह गक्खड़ निवास करते थे, जिन्होंने यवन सेनापति† के लिए यमलोक का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पजाब के नैर्ऋत कोण में मुलतान नगर है। प्राचीन मूलस्थान का मार्तण्ड-मदिर अपने समय में भारत की स्थापत्य कला का एक अद्भुत नमूना था। हिन्दू-अभ्यु-दय के सध्या काल में इसी पजाब प्रान्त के महाराजा रणजीतसिंह ने अपने शौर्य पराक्रम से अफगानों के विरुद्ध भालों की नोक से निर्मित मानों एक लोहे का अभेद्य प्राचीर खड़ा कर दिया था। उनके प्रधान सेनापति हरिसिंह नलवा के विजय-गीत आज भी पजाब के घर घर में गाये जाते हैं।

पजाब के दक्षिण-पूर्व मे इन्द्रप्रस्थ था। इस प्रदेश में महाराज हस्तिन् ने हस्तिनापुर बसाया था। इसी चक्र में 'जय'‡ नामक

---

* यहाँ यह शब्द मुसल्मानों का सूचक है।—सम्पादक

† मुहम्मद गोरी।—सम्पादक

‡ यह महाभारत का पर्यायवाची शब्द है।—सम्पादक

उठते हैं। श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति मीरों के अध्यात्म-अनुभव बड़े मूल्यवान् हैं।

यमुना के बाएँ तट पर ब्रह्मर्षि देश है। यहाँ ब्रह्म विद्या का सतत प्रचार था। गंगा के तट पर पांचालों की कान्यकुब्ज नामक राजधानी थी। माया, अयोध्या, काशी, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि प्रसिद्ध पुरियाँ यहीं पर हैं। शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि है। उत्तर कोशल की राजधानी अयोध्या नगरी में पुण्यश्लोक भगवान् रामचन्द्र ने जन्म लिया था। जिस सरयू के तीर पर इक्ष्वाकु-वंश के नृपतियों के अनेक यूप थे, आज भी वह अयोध्या के पास से बहती हुई उस अतीत महिमा का संदेश दे रही है। जिन अरुन्धती पति तपोनिधि वसिष्ठ के लिए कवि ने निम्नलिखित श्लोक लिखा है, उनका आश्रम अयोध्या के समीप ही था —

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥*

यह श्लोक समस्त गंगा की अन्तर्वेदी का रहस्य सूत्र है।

यहीं से कुछ दूर पर वाल्मीकि मुनि का तपोवन था, जहाँ शब्दब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले प्राज्ञ कवि की वाणी का आदि-काव्य रामायण के रूप में अवतार हुआ। वह अवध भूमि धन्य है, जहाँ काव्य-मानस के हंस गोस्वामी तुलसीदासजी ने जन्म

* महाकवि कालिदास प्रणीत रघुवंश, सर्ग ८, श्लोक ७८ —संपादक

ने अनेक वार राजस्थान की आकुल मर्यादा को बचाया है। बापा रावल, समरसी, राणा कुम्भा तथा राणा साँगा जैसे वीर इसी राजस्थान में जन्मे हैं। हिन्दू जाति को स्वातन्त्र्य का पाठ पढानेवाले अमर आचार्य महाराणा प्रतापसिंह ने यहीं सिसोदिया वंश की मानरक्षा के लिए ससार प्रसिद्ध हल्दी घाटी के युद्ध में असंख्य यवन-सेना का वध किया था। जिस नीले चेटक के अश्वारोही का चरित्र राजस्थान के प्रत्येक घर में आज भी गाया जाता है, उस वीर-केसरी का यश जब तक भारत-वसुन्धरा के युवकों में प्राण है, तब तक अक्षुण्ण बना रहेगा।

राजस्थान ने किसी समय यौधेय और मालव गणों को शरण दी थी। पजाब प्रदेश के समान ही यह भूमि भी अनेक गण-राज्यों की जननी रही है। उनके अंक और लाञ्छनों से चिह्नित मुद्राएँ आज भी पाई जाती हैं। यहाँ की मध्यमिका नगरी किसी समय शिवि जनपद की राजधानी थी। उसमे सकर्षण और वासुदेव के देवधाम थे। इसी राजस्थान मे विराट् नगर था, जहाँ पाण्डु कुल के वशतन्तु को अविच्छिन्न रखनेवाली देवी उत्तरा का जन्म हुआ था। यहीं दक्षिण में महाकवि माघ की जन्मभूमि श्रीमाल नगरी है। राजस्थान के क्षत्रियों के छत्तीस कुलो का पृथक्-पृथक् विस्तार वर्णन प्राय असम्भव ही है। पद्मिनी और दुर्गावती की जन्मभूमि को आर्य-सन्तान अब भी श्रद्धा के साथ प्रणाम करती है। भक्ति-स्रोतस्विनी मीराँबाई का स्मरण करके भारतीय महिलाओ के मुखमडल आज भी प्रसन्नता से जगमगा

को कम्पायमान कर दिया था। व्याकरण-शास्त्र के उद्भट संस्कारक श्रीभट्टोजि दीक्षित ने यहीं सिद्धान्तकौमुदी की रचना की। उनसे पूर्व पाणिनि के सूत्रक्रम का प्रतिपादन करनेवाली काशिका का यहीं निर्माण हुआ था। अप्पय दीक्षित जैसे अद्वितीय पंडित ने यहीं सिद्धान्तलेश की रचना की। इस ज्ञानपुरी में विद्या का नित्य नवीन उत्सव रहा है। यहीं के बापूदेव शास्त्री और शिवकुमार शास्त्री की कीर्ति दिग् दिगन्त तक फैल गई थी। इसी काशी पुरी में पुन एक बार श्रुतिमहती आर्य-सरस्वती की रक्षा और प्रचार के लिए एक ब्राह्मण† द्वारा विश्व विश्रुत हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है।

काशी से थोडी दूर पर‡ धर्म चक्र परिवर्त्तन महाविहार है, जहाँ सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध ने सत्यचतुष्टय का सब लोकों के हित और सुख के लिए उपदेश दिया तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग को प्रशस्त किया। तथागत के उस सनातन मानव धर्म को जानने के लिए आज सब ससार उत्सुक है।

कोशल से थोडी दूर उत्तर में शाक्यों की राजधानी कपिल-वस्तु थी। इसी के निकट लुम्बिनी उद्यान में मायादेवी के पुत्र सिद्धार्थ ने जन्म लिया था। आज भी रुम्मिनिदेई गाँव में अशोक का स्तम्भ उसी स्थान पर प्रतिष्ठित है। यहीं जेतवन था, जिसे अनाथपिण्डिक नामक नगर-श्रेष्ठी ने कार्षापणों से बिछाकर

† महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय —सम्पादक।

‡ सारनाथ में।—सम्पादक

लेकर अनेक पुराण और श्रुतियों के रहस्यों को अपने रामचरितमानस द्वारा हिन्दू जाति के लिए गगाजी के समान सुलभ कर दिया। देवों की यज्ञभूमि प्रयाग में गगा यमुना के सगम का दृश्य कितना मनोहर है, जिसकी छटा से मुग्ध होकर कालिदास की सरस्वती के प्रवाह में कुछ समय के लिए उपमाओं की बाढ आ गई थी†। प्रयाग के समीप ही वत्सराज उदयन की कौशाम्बी नामक राजधानी थी। वासवदत्ता के स्वामी उदयन भारतीय उपाख्यानों के प्रकृष्टतम नायक हैं। महाकवि सुबन्धु, भास, हर्ष आदि ने अनेक बार उदयन का गुण-गान किया।

लोकपावनी गगा के बाएँ तट पर काशी नगरी बसी हुई है। यहाँ के ज्ञान की महिमा अनन्त समय से ससार में व्याप रही है। ससार के इतिहास मे सबसे प्राचीन पुरी यही है। काशी इतिहास से अतीत है। काशी के व्योम मे सर्वप्रथम ज्ञान-सूर्य का प्रकाश हुआ। सयम और समाधि की मूर्ति जैन तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ ने यहीं जन्म लिया। इसी महापुरी में शारीरक भाष्य के रचयिता श्रीशकराचार्य का ज्ञानचक्षु स्वय शिव की कृपा से उन्मिषित हुआ। वाचस्पति मिश्र और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानों की धात्री यही पुरी है। यहीं कुल्लूक भट्ट ने मनु के अर्थ का प्रकाश किया। पाण्डित्यरूपी महाकान्तार के निर्भय सिंह पण्डितराज जगन्नाथ ने यहीं पर अपनी गर्जना से समस्त उत्तरापथ

† रघुवश, अध्याय १३, श्लोक ५५ ५९। —सम्पादक

यहीं पर लिच्छवियों का गण-राज्य था, जिनसे विवाह-सम्बन्ध हो जाने के कारण प्रतापी गुप्त-महीपति अपने विरुद में लिच्छवि-दौहित्र लिखना गौरवास्पद समझते थे। यहीं गिरिव्रज नगरी थी, जिसके खँडहर अभी तक वर्तमान हैं। यह महाभारत काल में महाराज जरासंध की राजधानी थी, यहीं श्रीकृष्ण ने राजकुमार सहदेव का राज्याभिषेक किया था। उस समय के दुर्ग का पाषाण का दुर्घट प्राचीर अब भी देखनेवालों को आश्चर्य-चकित करता है। इसी गिरिव्रज के पास राजगृह है, जिसके समीप वैभार, विपुल, तपोवन, शैलगिरि और रत्नगिरि नामक पाँच गिरि-शिखर थे। नगर के दक्षिण-पूर्व में स्थित रत्नगिरि पर एक गुफ़ा में मुमुक्षु गौतम ने कठोर तपश्चर्या की थी। इस सप्तपर्णी का प्रत्येक रज कण अत्यन्त तप पावित है।

राजगृह से थोड़ी दूर पर नालंद विश्वविद्यालय के भवन अभी तक विराजमान हैं। दस सहस्र विद्यार्थियों को शिक्षा देनेवाले इस केन्द्र में सुदूर बृहत्तर भारत तथा पूर्वी देशों से छात्रगण आते थे। श्रीनालंद-महाविहारीय आर्य-भिक्षुक-संघ का प्रशंसा-पत्र प्राप्त करना अपूर्व गौरव का चिह्न समझा जाता था। इसी मगध देश में पाटलिपुत्र नगर आठ सौ वर्षों तक भारत के क्षात्रतेज का अनुपम गोप्ता रहा है। यहीं के सम्राटों से पृथ्वी राजन्वती कहलाती थी। पाटलिपुत्र की दुर्ग रचना बड़ी विलक्षण थी। एक गहरी परिखा ने नगर को चारों ओर से मेखला के समान घेर रक्खा था। नगर की रक्षा के लिए सुदृढ़ काष्ठ का

सौगत-संघ को प्रदान कर दिया था। इस प्रदेश के विक्रम-ऊर्जित गण-राज्य आज कीर्तिमात्रावशिष्ट ही हो गए हैं।

इसके पूर्व में बिहार प्रान्त है, जहाँ पृथिवी के नीचे प्रस्तर-कला के अनुपम रत्न छिपे हुए हैं। यहाँ ही मिथिला में अध्यात्मवेत्ता विदेह राजर्षि जनक का राज्य था। याज्ञवल्क्य के शिष्य राजर्षि जनक के सदृश ब्रह्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ और कौन हुआ है? संसार के राजाओं में जनक का नाम अकेला ही है। चन्दन-सुललित दक्षिण-बाहु तथा खड्ग-निकृन्तित वाम-बाहु में समान भाव रख सकनेवाले विदेह जनक का अभी तक भारत के अध्यात्मज्ञानी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। उन्हीं की पुत्री सीता थीं, जिन्होंने सदा के लिए जगत् में पातिव्रत का आदर्श स्थापित किया। ब्रह्मवादिनी सुलभा और ब्रह्मपरायण अवधूत अष्टावक्र ने यहीं पर जनक को तत्त्वोपदेश दिया था। यहीं योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने आदित्यवर्ण पुरुष का साक्षात्कार करके वाजसनेयी शाखा का प्रचार किया। भारतीय अध्यात्म-विद्या के अक्षय्य निधि याज्ञवल्क्य का 'शतपथ ब्राह्मण' अद्यावधि वेदों के रहस्यों का प्रकाश कर रहा है। उनकी स्मृति पर कल्याण नगरी के धर्म-शास्त्र-कोविद विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा नामक टीका आज तक हिन्दू-विधान का नियंत्रण करती है। इसी भूमि में मैत्रेयी ने इस शाश्वत सत्य का प्रकाश किया था—'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्', अर्थात् जिस वस्तु से मैं अमर न बन सकूँ, उसे लेकर मैं क्या करूँ?

जिन्होंने सत्यात्मक रूप दिया, उन महाराज अशोक को जन्म देनेवाली भारतभूमि ही हम सबकी जन्मभूमि है।

इसी पाटलिपुत्र में महाराज पुष्यमित्र, परमभट्टारक परम भागवत महाराज समुद्रगुप्त तथा महाराजाधिराज परमेश्वर आदित्यसेन ने अनेक बार अश्वमेध यज्ञ करके 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्', इस वैदिक आदर्श की स्थापना की। यह पाटलिपुत्र विद्या का भी अनुपम केन्द्र था। यहीं वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि आदि शास्त्र-रचयिता शलाका आदि नाना परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ख्याति को प्राप्त हुए। मीमांसा और वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य रचनेवाले भगवान् उपवर्ष पाणिनि के गुरु थे। इसी पुरी में जन्म पाकर आर्यभट्ट ने आर्यभटीय ज्योतिष-शास्त्र की रचना की और आज से सहस्रों वर्ष पूर्व सूर्य के चारों ओर पृथिवी के परिभ्रमण का व्याख्यान किया। इसी तिरहुत (तीरभुक्ति) में नव्य-न्याय का जन्म हुआ, जिसने कुतार्किक विरोधियों को काटने के लिए पैने खाँडे का काम दिया। इस शास्त्र के होते हुए आस्तिक-शास्त्रों को जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास आदि प्रबल रिपुओं से एकदम निर्भयता प्राप्त हो गई। बिहार में ही शोण नदी के तट पर स्थित प्रीतिकूट गाँव में महाकवि बाणभट्ट का जन्म हुआ, जिनकी कादम्बरी नामक 'अतिद्वयी कथा' ने अकेले ही संस्कृत-गद्य की प्रतिष्ठा रख ली है। हर्ष के मित्र इस ऐतिहासिक ने 'हर्षचरित' के द्वारा मध्यकालीन भारत की दशा का बड़ा सजीव वर्णन किया है। इसी प्रदेश में मैथिल कोकिल विद्यापति ने काव्य-

बना हुआ एक वृहत्काय प्राचीर था, जिसमें आने-जाने के चौदह मार्ग थे। इसके गोपुरों पर यत्र-तत्र तोरण बने हुए थे। नगर के भीतर पाँच सौ सत्तर सुवर्ण-खचित अट्टालिकाएँ थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य के सुगांगेय नामक राज-प्रासाद में सोने की बेलों पर चाँदी की चिड़ियाँ लगी हुई थीं। ऐसी अतुल सम्पत्ति और वैभव के भार से सिल्यूकस का राजदूत एकदम स्तब्ध हो गया था। जिस चाणक्य के अमर्ष ने नन्दराज को श्रीविहीन कर दिया, तथा जिसके प्रसाद ने चन्द्रगुप्त को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया, उसी कुशल मंत्री की राजनीति से शासित होनेवाले विशाल मौर्य-साम्राज्य के सुप्रबन्ध की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

इसी पाटलिपुत्र में 'देवाना प्रिय' प्रियदर्शी महाराज अशोक ने राज्य किया। बौद्ध-संघ में दीक्षा लेकर जिन्होंने भगवान् के नीति धर्म का सुवर्णभूमि ब्रह्मा से गान्धार तक तथा सिंहल से काश्मीर तक प्रचार किया, जिन्होंने स्वदेश और विदेशों में सब प्राणियों के हित-सुख के लिये अनेक पुण्य-कर्म किए, तथा मिस्र देश और सीरिया तक जिनका राज्य सम्बन्ध था, उन महाराज अशोक की अमर कीर्ति का बखान करनेवाले स्तम्भ और धर्मलेख शाह-बाजगढ़ी से जूनागढ़ तक तथा धौली-जौगड़ से सिद्दापुर (मैसूर) तक फैले हुए हैं। जिन्होंने भिक्षुसंघ भेजकर मध्य-एशिया की बर्बर जातियों में तथागत के धर्म का प्रचार किया, जिनके पुत्र और पुत्री ने स्वयं तप में दीक्षित होकर धर्मपथ को आलोकित किया, तथा एशिया भूखंड की एकता के स्वप्न को सबसे पहले

हुआ हो, उस भूमि के पुण्यभाग का क्या कहना है। कविवर जयदेव की विपची इसी वगभूमि मे निनादित हुई। उनके समका लीन धोयी कवि और रूपगोस्वामी ने भी अद्भुत काव्य रचना की। यहीं नासिरशाह, हुसेनशाह आदि के समय में विद्यापति, कृत्तिवास, चडीदास और मालाधर वसु ने भगवद्भक्तिमयी काव्य वाणी का प्रसार किया। भक्त हरिदास के कीर्तन की पुण्यभूमि यही है। धर्म-शास्त्र के धुरन्धर पडित जीमूतवाहन ने इसी प्रान्त में दायभाग नामक ग्रन्थ की रचना की। हे मातृभूमि, तेरा गौरव अपूर्व है, जिसमें ऐसे ऐसे धर्मतत्त्व कोविद उत्पन्न हुए। शक्ति तत्त्व की उपासना करनेवाले इस प्रान्त ने भारत के अभ्युत्थान में अग्रणी बनकर भाग लिया है। 'वन्दे मातरम्' गान प्रारम्भ में यहीं गाया गया। काव्य, कला, साहित्य, नाटक, विज्ञान, सबमें ही वगीय प्रतिभा का प्रकाश हुआ है। वग के उत्तर-पूर्वी कोण पर नवद्वीप नगरी है, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि है। प्राची के ललाट पर आभासित रोचना-बिन्दु के सदृश नवद्वीप को दूसरी तक्षशिला ही कहना चाहिए। तिरहुत में निर्मित नव्य-न्यायरूपी खड्ग पर नवद्वीप में ही धार रक्खी गई। काशी, काञ्ची, तक्षशिला और नवद्वीप, इनको ज्ञानगुरु भारत का अन्त करण-चतुष्टय ही समझना चाहिए। प्रकृति के अनुपम कृपापात्र कामरूप में कामाक्षा देवी का प्रसिद्ध मदिर है। इस प्राग्ज्योतिष प्रान्त से भी मातृभूमि को बहुत कुछ आशाएँ हैं।

मध्यभारत मे मालव प्रदेश है। यहीं अवन्ति

रचना की, जिसका सम्मान तीन-तीन प्रान्तों में समान रूप से हुआ है। इसी प्रान्त के दक्षिण में उत्कल और कलिङ्ग हैं, जहाँ के समुद्र-तटों पर सुदूर पूर्वी द्वीपों के साथ बराबर व्यापार होता था। महार्घ पदार्थों का क्रय-विक्रय करनेवाले भाण्डागारिक सुदृढ पोतों पर सामान लादकर द्वीपान्तरों में जाते थे। कलिंग के प्रतापी महाराज महामेघवाहन खारवेल ने पाटलिपुत्र तक अपने राज्य का विस्तार किया था। उन्हीं की कृपा से कुमारी पर्वत पर जिन-शास्त्रों का पारायण किया गया।

बिहार के पूर्व मे बंग देश है। यहाँ के समतट प्रदेश सदा से गंगा के अनुपम कृपा-पात्र रहे हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र की क्रोड में स्थित यह भूखंड बहुत उपजाऊ है। बंगाल के 'आपाद-पद्म-प्रणत कलमों'* का वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ के पुण्ड्रवर्धन और सुवर्णकुड्या स्थानों में अनुपम कौशेय दुकूल तैयार होते थे। कर्णसुवर्ण के समीप नागकेसर, लिकुच, वकुल तथा वट वृक्षों पर कोष कीट पाले जाते थे। यहाँ के बुननेवालों का सम्बन्ध लाट (उत्तरी गुजरात) तथा दशपुर (वर्तमान मन्दसौर, मध्यभारत) के अंशुक-व्यवसायियों से था। कर्णसुवर्ण के समीप में ही रक्तमृत्तिका स्थान है, जहाँ के पोताधिपति महानाविक बुद्धगुप्त का शिलालेख मलय प्राय द्वीप के वैलेजली नामक स्थान में अभी तक विराजमान है।

यहाँ का साहित्य अपूर्व है। जहाँ कृष्णभक्त चैतन्य का जन्म

*आपादपद्मप्रणता कलमा इव ते रघुम्। रघुवंश सर्ग ४, श्लो० ३७—स०

इन्हीं समुदित-बल-कोप पुष्यमित्रों पर समर-विजयी होने के लिये महाराज स्कन्दगुप्त ने भितरी गाँव के पास एक रात्रि पृथ्वी तल पर शयन करके तपस्या से व्यतीत की थी। विप्लुत वश-लक्ष्मी के सत्तभन के लिये जब सेनानी लोग तपस्या करते हैं, तब क्षात्रधर्म समुदीर्ण हो जाता है। जिन्होंने समरागण में विक्रान्त हूणों से लोहा लेकर अपने भुज-दण्डो से पृथ्वी को कम्पायमान कर दिया, तथा जिन्होंने अनन्त म्लेच्छों को मार भारत मही को पुन आर्य-धर्म में दीक्षित किया, यह अवन्ति पुरी उन्हीं हूणहनन-केसरी जनेन्द्र कल्किराज महाराज यशोधर्मन् की पुण्यभूमि है। इसी अवन्ति के समीप दक्षिण में धारा नगरी है, जहाँ सरस्वती के अवतार महा-राज भोज ने राज्य किया। भोज की विद्या के अगाध गाम्भीर्य को त्रिलोकी में कौन पूरी तरह जानता है ? वह कौनसा विषय है, जिसपर सरस्वती-कण्ठाभरण महाराज भोज ने लेखनी न उठाई हो। हे मालव भूमि ! तुझे बारबार प्रणाम है।

मध्यभारत के पूर्वी भाग में विदिशा नामक नगरी है। इसी प्रदेश को दशार्ण कहते थे। यहाँ साँची और भरहुत के स्तूप हैं,जिनकी शिल्पकला के कारण मातृभूमि का गौरव प्रकृष्ट हो रहा है। ये शिल्प के उदाहरण किसी सम्राट् की आज्ञा से नहीं बने हैं, वरन सामान्य पौर-जानपद प्रजा ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनके निर्माण का भार वहन किया था। साँची के विशाल तोरण भारतीय शिल्पकला के अद्भुत उदाहरण हैं। उनमें तक्षक के अमर हृदय की छाप लगी हुई है। समीप ही भरहुत के स्तूपों

नामक राजधानियाँ हैं। चर्मण्वती, शिप्रा, गभीरा, वेत्रवती, सिन्धु, तमसा आदि वारिधाराएँ इसी प्रदेश से यमुना के पास नित्य उपहार ले जाती हैं। उत्तरी मालव की उज्जयिनी नामक राजधानी थी, दक्षिण-मालव की प्रधान पुरी माहिष्मती थी। उज्जयिनी नगरी में देश के प्रधान व्यापारमार्ग मिलते थे। पहला मार्ग सौवीर देश से अवन्ती तक, दूसरा प्रतिष्ठान से अवन्ति-विदिशा होता हुआ कौशाम्बी से साकेत और श्रावस्ती को जाता था। वहाँ से कुशीनगर, पावा, पाटलिपुत्र और राजगृह तक सम्बद्ध था। तीसरा मार्ग अवन्ती से काशी होता हुआ चम्पा और ताम्रलिप्ती तक जाता था। चौथा प्रसिद्ध मार्ग अवन्ती से गान्धार देश को मिलाता था। इस विशाला पुरी में किसी समय प्रद्योतों का राज्य था। यहीं ज्योतिष विद्या की अपूर्व उन्नति हुई। पंच-सिद्धांतों के रचयिता आचार्य वराहमिहिर यहीं रहते थे। सारे भारत मे यह पुरी संस्कृत का केन्द्र थी। महाकवि कालिदास ने जहाँ निवास किया हो, उसको स्वर्ग का ही कान्तिमत् खंड* कहना चाहिए। यहीं शिप्रा के तीर पर स्थित महाकाल के मंदिर में नित्य महाभारत की कथा होती थी। यह अवन्ती किसी समय हूण-नृपतियों की राजधानी थी। प्रबल प्रतापी क्षत्रप रुद्रदामन् विक्रम की द्वितीय शताब्दी में यहीं राज करते थे। मालव प्रदेश में ही पुष्यमित्रों का गणराज्य था, जिन्होंने गुप्त-कुल की राजलक्ष्मी को विचलित कर दिया था।

* शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।

कालिदास प्रणीत 'मेघदूत' पूर्वमेघ, श्लो० ३० —सम्पादक

मुग्ध कर लिया है। इस मध्य-प्रान्त में ही रामगिरि, मालक्षेत्र और आम्रकूट हैं। यहाँ के छत्तीसगढ के इतिहास को राजस्थान का ही एक टुकड़ा समझना चाहिए। इसी के दक्षिणवर्ती वेनगङ्गा और गोदावरी तथा तुगभद्रा और कृष्णा नदियों के बीच में महा-कान्तार प्रदेश हैं। ये किसी समय वन्य जातियों से भरे हुए थे। यहाँ ही सातवाहन-राज्य का विस्तार हुआ था। यहाँ अभी तक प्राचीन सस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रथ सुरक्षित हैं। इसके उत्तर-पश्चिम कोने में अजन्ता की गुफाएँ हैं, जिनको राष्ट्रीय शिल्पशाला का गौरवपद प्राप्त है। मौर्य, गुप्त, चालुक्य, पह्लव, सब सम्राटों ने अजन्ता की गुफाओं के सँवारने में अपना ध्यान दिया था। इन्हीं गुफाओ के निर्माण मे श्रीमान् और वित्तपाल सदृश तक्षकों के कौशल का परिचय मिलता है।

पश्चिम मे उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ महाराष्ट्र देश है। इसके उत्तर मे सिन्धु-सौवीर देश है, जहाँ के राजा जयद्रथ ने कुरु-क्षेत्र के युद्ध में भाग लिया था। यह क्षेत्र सिन्धु नदी का अनुपम कृपापात्र है। यहाँ किसी समय अम्बष्ट और क्षत्रिय नाम के जन-पद तथा मुचुकर्णि गणराज्य था, जिन्होने सिकन्दर की गति को रोककर अतर्राष्ट्रीय विधान का पालन किया था। यहाँ के अधि-वासी दडनीति मे बडे निष्णात थे। मुचुकर्णि सघ के राज्य में सोने-चाँदी की खानें थीं। ये लोग स्वास्थ्य के नियमो का धर्म की तरह पालन करते थे और सवा सौ डेढ सौ वर्षों का दीर्घायुष्य प्राप्त करते हुए 'जीवेम शरद शत भूयश्च शरद शतात्' का

में भदन्त, कश्यपगोत्र, मध्यम, दुन्दुभिसार और गोतीपुत्र आदि की अस्थियाँ बाइस सौ वर्ष बाद भी उसी तरह रक्खी हुई हैं। इन महात्माओं ने युद्ध-दुन्दुभि की जगह धर्म का भेरी-घोष करनेवाले महाराज अशोक की आज्ञा से प्रेरित होकर हिमालय के प्रदेशों में भगवान् बुद्ध के धर्म का प्रचार किया था। इस भूखंड में हिन्दी भाषा खूब फली-फूली है। यहीं चम्पतराय के पुत्र छत्रसाल ने अलौकिक पुरुषार्थ के साथ हिन्दू-राज्य की स्थापना की थी।

मध्यभारत के दक्षिण में मध्य-प्रदेश है। यहीं विन्ध्य और पारियात्र पर्वतों के बीच मेकल-कुमारी रेवा बहती है। यहाँ के पर्वतों और वनखंडो में अभी तक आदिम सभ्यता बसती है। महाकान्तार और दण्डकारण्य यहीं थे। यहीं शून्य जनस्थान में राम, लक्ष्मण और सीता ने भ्रमण किया था। इसके दक्षिण मे विदर्भ देश है, जहाँ दमयन्ती और इन्दुमती जैसे रमणी-रत्न हुए हैं। यहीं पद्मपुर नामक ग्राम मे कश्यपगोत्रीय ब्रह्मवादी उदुम्बर ब्राह्मणों के घर मे कविवर भवभूति हुए, शब्द-ब्रह्म को प्रत्यक्ष करनेवाले इन प्राज्ञ महात्मा की परिणत वाणी ही 'उत्तर-रामचरित' के रूप मे प्रकट हुई। कुमारिल के वेदोत्थान-आंदोलन के समय जिस वैदिक सभ्यता का उद्धार हुआ, उसका समस्त आदर्श भवभूति में पूंजीभूत हो गया था। इसी विदर्भ के अचलपुर ग्राम में कौशिक गोत्र में महाकवि भारवि और दंडी ने जन्म लिया, जिनके अर्थ-गौरव और पद-लालित्य ने सहृदय जनों को

का समस्त पुस्तकालय खरतर गच्छ की दीवारों में बन्द है। यहाँ के साहित्य की ओर सब लोग आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं।

सौराष्ट्र में वलभी राजधानी है, जहाँ गुप्त-नरेशों की एक शाखा ने कई शताब्दियों तक राज्य किया। इसी के समीप पालिताना और शत्रुंजय तीर्थ हैं, जहाँ सहस्रों अर्हत प्रतिवर्ष यात्रा करते हैं। इसी के गौरव का धनेश्वर ने शत्रुजय-माहात्म्य नामक ग्रन्थ में गुणगान किया है। सुराष्ट्र मडल की सर्वप्रसिद्ध पुरी द्वारावती है, जो अधक-वृष्णि गणराज्य की राजधानी थी। यहीं विक्रम से चौदह सौ वर्ष पूर्व अर्धभोक्ता राजन्य श्रीकृष्ण सात्वत दाशार्ह वृष्णि आदि यादवों के प्रधान बनकर शासनसूत्र चलाते थे। इन्हीं वृष्णियों के 'वृष्णिसघस्य त्रातरस्य' शब्दों से अंकित प्राचीन सिक्के अब भी मिलते हैं, जिनपर चक्र की मुद्रा बनी हुई है। द्वारावती और इन्द्रप्रस्थ के तत्कालीन राजनीतिक सम्बन्ध को कौन भारत-वासी नहीं जानता ? यहीं समुद्र-तीर पर प्रभास तीर्थ है, जहाँ मदोद्धत यादवों का विनाश हुआ था। यही प्रभास पीछे से सोम-नाथ नाम से विख्यात हुआ। यहीं पर आर्य जाति को 'दडनीति का नाश होने पर सब धर्म भी डूब जाते हैं' (मज्जेत् त्रयी दड-नीतौ हतायां सर्वे धर्मा प्रक्षयेयुर्विवृद्धा), इस अत्यन्त कडवे सत्य का यवन विध्वसक के हाथ से प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ा। यह गुजरात प्रान्त वही है, जो व्यापार में अत्यन्त उन्नतिशील था, जहाँ के नाविक अपनी-अपनी तरी और पोतों में अत्यन्त महार्घ पदार्थ लादकर द्वीप-द्वीपान्तरों में बेचकर उत्तम लाभ और पृथु

आदर्श रखते थे। स्वतंत्रता के उपासक इस जनपद में कोई कदर्य और दास नहीं था। यहीं पर सिन्धु के पास पाटल नगर था, जहाँ से पाश्चात्य देशों के साथ विपुल व्यापार होता था। इस सौवीर प्रान्त में राजा दाहिर ने देशाभिमान की वेदी पर अपनी बलि चढा दी थी। विक्रम की सातवीं शताब्दी में सिन्धु तीर पर सुखासीन ऋषिसत्तम देवल ने अपनी स्मृति की रचना की, जिसमे समाज और जाति की रक्षा के लिये पुनरावर्तन सस्कार का प्रतिपादन किया गयाहै। इसी प्रान्त के उमरकोट दुर्ग में सम्राट् अकबर का जन्म हुआ था। सिन्ध देश की शुष्क भूमि में वेदान्त और सूफी-धर्म अत्यन्त पल्लवित हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी में शाह लतीफ नाम के महात्मा ने 'रसालो' लिखकर 'अह ब्रह्म' के उपदेश द्वारा मानव हृदयस्थित एकता को खोज निकाला था। सचल, स्वामी और दलपत ने उसी ज्ञान को घर-घर में पहुँचा दिया। यह सिन्ध प्रात यद्यपि देश के एक कोने में है, तथापि मातृ-भूमि के हृदय के साथ इसका हृदय एक है। इसके निकट ही आनर्त, सुराष्ट्र और लाट प्रदेश हैं। इनमें सरस्वती, साभ्रमती (साबरमती), मही, नर्मदा और पयोष्णी नदियाँ बहती हैं। सरस्वती नदी के तीर पर अणहिलपत्तन नगर है, जहाँ कलिकाल के आचार्य, कुमारपाल के सचिव पाहिणी-पुत्र श्रीहेमचद्र ने अनेक ग्रथों का निर्माण किया। इन्होंने जैन और ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों को समान रूप से अनुगृहीत किया। इस पत्तन में जैन हस्तलिखित ग्रथों के भडार अभी तक सुरक्षित हैं। श्री हेमचद्राचार्य

कहाँ तक किया जाय ? एकनाथ, नामदेव आदि महात्मा इसी प्रान्त में उत्पन्न हुए। कविवर मोरोपन्त और साधु तुकाराम ने अपने काव्यामृत से महाराष्ट्र-वासियों को तृप्त कर दिया। समर्थ गुरु रामदास ने छत्रपति शिवाजी जैसा शिष्य पाकर राष्ट्रीय धर्म की योजना की; सारे मराठों को सगठित करके महाराष्ट्र-धर्म को बढाने का उपदेश दिया। हिन्दू-राज्य-प्रणाली के उद्धारकर्त्ता छत्रपति शिवाजी को, जिन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना करके भारतीय सभ्यता को बचाया, कौन नहीं जानता ? इनकी कीर्ति को गाकर मतिमान् भूषण अमर हो गए हैं।

दक्षिण का द्रविड़ देश भक्ति और ज्ञान का आगार है। इस दक्षिणापथ के कई भाग हैं। गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच आन्ध्र देश है, जहाँ श्रीशैल, द्राक्षाराम और कालेश्वर के शिवलिङ्ग हैं। इसी से यह प्रान्त तिलगाना भी कहलाता है। यहीं आञ्जनेय हनुमान् ने जन्म लिया था। यहीं सातवाहन नृपतियों की राजधानी थी, जिन्होंने चार शताब्दी तक वैदिक धर्म की दृढ ध्वजा का आरोपण किया। यहाँ का पौरजानपद-प्रबन्ध प्रशसनीय था। यहाँ की नैगम, पूग और कुलिक सभाएँ जनता को पूर्ण स्वराज्य का अनुभव कराती थीं। आन्ध्र देश का मनुष्य-वर्गीकरण भी स्तुत्य था। महारथी, महासेनापति, अमात्य, महामात्र, भाडागारिक, नैगम, सार्थवाह, श्रेष्ठिन्, लेखक, वैद्य, गन्धिक, हालकीय, वर्धकि, लोहवनिज और मालाकार आदि उद्योगों के अनुसार सगठन हुआ था। आन्ध्रों का

धन लाते थे, जहाँ से एक सहस्र रथकार किसी समय वि
भारत को बसाने के लिए गए थे। इसी गुर्जर प्रान्त में मो
और पोरबन्दर हैं, जहाँ तेजस्वी दयानन्द से आदित्य-ब्रह्म
और गाँधी-से सत्याग्रही हुए हैं। इस पुण्यभूमि ने नरसी मे
और अखा को जन्म दिया है। यहीं गिरिनार पर्वत के
सुदर्शन झील है, जिसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने प्रा
पुष्यगुप्त द्वारा बनवाया था। उनके पौत्र अशोक ने तुषाष्फ ना
प्रादेशिक को आज्ञा देकर यहाँ नहरें बनवाई थीं। इस सुदर्श
सुराष्ट्र की भूमि को अदेवमातृक बना दिया था। चार शताब्दी
प्रचण्ड वर्षा के कारण इस झील का बाँध टूट गया था। तब उज्जै
प्रतापी क्षत्रप रुद्रदामन् ने इसके निर्माण के लिये अपने मन्त्रिम
से रुपया माँगा था, परन्तु मन्त्रियों के अस्वीकार करने पर
दामन् ने अपने निजी कोष से इसका निर्माण कराया था। गि
नगर का शिलालेख सूचित करता है कि भारत में राजा के अ
कारों पर मन्त्रिमण्डल का कितना अंकुश था।

इसके दक्षिण में महाराष्ट्र देश है, जहाँ सह्याद्रि पर्वत-श्रेणि
हैं। विदर्भ के पश्चिम का भाग कुन्तल कहलाता था। यहीं प्रा
कवि राजशेखर का जन्म हुआ, जिसने कुन्तल-कुमारी कर्पूरम
के चरित्र का वर्णन किया है। महाराष्ट्र के मध्य भाग मे भ
नदी के दक्षिण तट पर पंढरपुर स्थित है। यहीं ज्ञानेश्वर महा
ने जन्म लेकर ज्ञानेश्वरी की रचना की। यहीं मुक्ताबाई के
से भक्त चोखामेला ने जन्म लिया। महाराष्ट्र के सन्तों का परिग

है, शिवज्ञानबोध नामक ग्रंथ की रचना की, जो तामिलों को सबसे प्रिय धर्म पुस्तक है। श्वेताचार्य के दो शिष्य अरुलनन्दि उत्कृष्ट दार्शनिक हुए, तथा दूसरे शिष्य श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्रों पर ब्रह्म-मीमांसा नामक भाष्य रचा। बोधायन, शंकर, भास्कर और रामानुज के बाद श्रीकण्ठ का ही भाष्य है। कम्बर की वाल्मीकि रामायण भी तामिल-साहित्य का हृदय हार है। यहाँ चोलों और पाण्ड्यों के विस्तृत साम्राज्य थे। चोल महीपतियों ने तंजोर नगरी को अतुल सम्पत्ति व्यय करके सजाया था। यहाँ के विशाल मन्दिर अब भी दर्शकों को चकित करते हैं। पल्लवों की राजधानी काञ्ची थी, जिसकी गणना भारत की महापुरियों में की जाती है। यहीं के सिंहविष्णु पल्लव के आश्रित भारवि कवि थे। सम्राट् नृसिंहवर्मन् ने अपने प्रखर प्रताप से महाराज पुलकेशी की प्रतिभा को तिरोहित कर दिया था। काञ्ची पुरी के आपणों में, ऊँचे-ऊँचे विमान-गृह, सौध और अट्टों में तथा राजमार्ग के तोरणों और प्राकारों में अनन्त लक्ष्मी बरसती थी। इसे दक्षिण का पाटलिपुत्र ही कहना चाहिए।

पश्चिमी सागर के तीर-प्रान्त के केरल और महिशूर (मैसूर) हिरण्यवक्षा मातृभूमि के परम प्रिय अंग हैं। मध्व-धर्म के केन्द्र इन प्रान्तों में पम्पा, रन्ना, लक्ष्मीश तथा अडलिंगाचार्य जैसे भक्त और कवि-सम्राट् हुए हैं, जिनकी रचनाओं से कन्नड भाषा अलंकृत है। यहीं धाड़वाड़ के समीप गजेन्द्रगढ में कोलाचल-सूरि मल्लिनाथ के वंशज अभी तक रहते हैं। कणाद, व्यास, पतञ्जलि, और शास्त्रों में पारंगत तथा अतुल विषयों के ज्ञाता

चरम सीमा पर था। यहाँ काव्य और साहित्य का भी विपुल विकास हुआ है। नन्नय भट्ट, तिक्कन सोमयाजी और ऐरीप्रेग्गडा नाम के कवित्रय ने तीन शताब्दियों के अन्दर आन्ध्र-महाभारत की रचना की। भक्त-शिरोमणि पोतनामात्य और वेद-पुराणों के अद्वितीय विद्वान् महाप्रतिभाशाली श्रीनाथ कवि ने आन्ध्र देश को गौरवान्वित किया है। त्यागराज आन्ध्र के विद्यापति किंवा जयदेव हैं। ऐसे ऐसे महाकवियो से विभूषित गोदा और कृष्णा के बीच के इस भू-प्रदेश के अधिवासी सरलता और अध्यवसाय की मूर्ति हैं।

कर्णाट या तामिल प्रान्त पूर्वी समुद्र-तट पर दूर तक फैला हुआ है। यहीं कावेरी और ताम्रपर्णी नदियाँ हैं। यहीं मुक्ताफल, जवादु, रिसेय आदि महार्घ पदार्थों का व्यापार होता था। यहाँ के नाना देशी सघो मे देश-विदेशों के व्यवसायीगण सम्मिलित होते थे। स्थानीय स्वशासन की प्रवृत्ति यहाँ चरम सीमा को पहुँच गई थी। यहाँ ही तृतीय सगम के समय में तिरुवल्लुवर महाकवि ने तिरुक्कुरल ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ ने कोटि-सख्यक मनुष्यो को शान्ति और नीति की शिक्षा दी है। तिरुवल्लुवर सदृश कवि ही राष्ट्र की सभ्यता और सस्कृति का वर्धन करते हैं। धन्य है तिरुवल्लुवर की सरस्वती, जिसने तुलसीदास की शारदा के सदृश ही दक्षिण-भारत में धर्म की स्थापना की। अनन्त रत्न अपनी-अपनी प्रभाओं के व्यतिकर से मातृभूमि के स्वरूप को भासित कर रहे हैं। शैव-धर्मानुरागी मैकण्ड ने, जिनकी उपाधि श्वेताचार्य श्वेतवन भी

रचकर सामाजिक आचार की प्रतिष्ठा की। यहीं चालुक्य विक्रमार्क की राजधानी कल्याण नगरी में श्रीविज्ञानेश्वर ने 'मिताक्षरा' की रचना की, जो व्यावहारिक धर्मशास्त्र का देश भर में सर्वशिरोमणि ग्रन्थ है।

असमान्य विद्वज्जनों को उत्पन्न करनेवाली, कला, साहित्य और विज्ञान में उन्नति की चरम सीमा को पहुँची हुई, और जानपदों को उत्कृष्ट कक्षा की स्वतन्त्रता प्रदान करनेवाली भारतभूमि के विषय में देवता भी गीत गाते हैं। अहा! वे कैसे धन्य-भाग हैं, जिनकी ऐसी जननी है। हे भुवन मन-मोहिनी, हे शुभ्र-तुषार-किरीटिनी, निर्मल-सूर्यकरोज्ज्वलधरणी! तुम जनक-जननि-जननी हो। तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध कुछ नया नहीं है, हमारे माता-पिता और उनके पूर्वजों की भी तुम धात्री हो। हे देवि! नील सिन्धु नित्य तुम्हारे चरणतल को धोते हैं, जलदकाल में तुम्हारे मेघ-मेदुरित अम्बर को समुद्रानिल विकम्पित करता है। तुम्हारे गगन में सर्वप्रथम ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ, तुम्हारे यहाँ सामवेद की उत्पत्ति तपोवनों में हुई है, ज्ञान और धर्ममयी काव्य-गाथाएँ आरम्भ में तुम्हारे वन-भवनों में प्रचारित हुईं। हे चिरकल्याण-मयी देवी, तुम धन्य हो! तुम देश विदेश में सकल सामग्री का वितरण करती हो। हे अमृत-निष्यन्दिनी मातृभूमि! अब हम तुम्हारे वैदिक गीत को गाते हैं—

"सत्य, यज्ञ, दीक्षा, तप और ब्रह्म तुम्हें धारण करते हैं तुम हमारे भूत की साक्षी और भविष्य की अधिष्ठात्री हो।

दूसरा टीकाकार किसी भाषा में नहीं हुआ; उनकी सञ्जीवनी और घण्टापथ टीकाएँ अनन्य-सामान्य हैं। परम पावन कनकदास ने यहीं पंचम-कुल में जन्म लेकर हरितोषिणी भक्तितरङ्गिणी से समस्त जनों को स्नान कराया। यह किष्किन्धा प्रदेश है, जहाँ पम्पा और ऋष्यमूक पर्वत हैं। केरल में सरस्वती, वेत्रवती और मुरला नाम की नदियाँ हैं। यहाँ केतकी की धूलि निरन्तर वायु में उड़ती रहती है। यहीं मलय-स्थली से बहता हुआ दक्षिणानिल माता के विपुल व्यापी अंचल को सुरभित करता है। ताम्बूल-वल्ली, एलालता, पूग और तमालपत्रों से आस्तीर्ण इन भू-प्रदेशोंका स्मरण करके न जाने कितनी बार भारतीय कविजन विह्वल हो गये हैं। यही केरल-भूमि भगवान् शकर* की जन्म-भूमि है। केवल पन्द्रह वर्ष की आयु में ही जिन्होंने शारीरक सूत्रों पर भाष्य की रचना की, उन ब्रह्मज्ञानी शकर ने विश्व भर मे भारत के यश को फैलाया है। कुमारिल, शकर, यामुन, वेदान्तदेशिक, रामानुज, वल्लभ, उम्वेक, माधव, मध्व, सायण आदि आचार्यों का जन्म दक्षिणापथ में ही हुआ था। इनकी प्रतिभा आज तक दर्शन और वेद के विषय में अप्रतिद्वन्द्विनी मानी जाती है। इन्होंने वैदिक सभ्यता का आदर्श उत्कृष्टतम रूप में लोक के सामने रखा था। ज्ञान और भक्ति की जो तरङ्गें दक्षिणापथ से उठीं, सारे देश पर उनकी अमिट छाप लगी हुई है। दक्षिणापथ मे ही ध्रुवस्वामिन्, देवस्वामिन्, भवस्वामिन्, अग्निस्वामिन् आदि ने धर्मसूत्रों पर भाष्य

* शङ्कराचार्य —सपादक

सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। विचार करनेवाले मनीषियों के लिए ही यह मातृभूमि प्रगट हुई। सुपुत्रों के लिए यह अमृत से परिपूर्ण है, तथा दूसरा के लिए केवल जड़ मर्त्य है। जिस मातृ-भूमि में भद्र की कामना करनेवाले ऋषियों ने तप किया है, जहाँ गायत्री मंत्र का गान हुआ है, वह भूमि हमें उत्तम राष्ट्र में बल और क्षात्र तेज की देनेवाली हो। इसी के लिए हमारी सम्मिलित प्रार्थना है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्य' शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे-निकामे न पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्
योगक्षेमो न कल्पताम्॥ ※ (यजु० अ० २२।२२)

॥ इति ॥

—वासुदेवशरण अग्रवाल

※ हे प्रभो! इस यजमान के राष्ट्र मे ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी हों, क्षत्रिय शूर, धनुर्धर, शत्रु के प्रबल संहारक ... महारथी हों, गौ दूध देनेवाली, बैल भारवाही, अश्व वेगवान्, ... रथी वीर, युवा विजयशील और सभ्य हों। ... ओषधियाँ फलवाली होकर पकें और ... तथा रक्षा) हो।

विषमता से रहित होकर नाना प्रकार की वीर्यवती ओषधियों का भरण करती हो। तुम्हारे ऊपर अग्नि और सोम नित्य प्रीतिपूर्वक सृष्टि-कार्य करते हैं। तुम्हारे गिरि-पर्वत और अरण्य हमें सुख देते हैं। तुम्हारी वारिधाराएँ प्रमाद-रहित होकर रात-दिन बहती रहती हैं। तुम व्रीहि और यवादि अन्नों को उत्पन्न करती हो। तुम्हारी षट् ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—हमें सदा सुखावह होती हैं। तुम चतुष्पाद् और द्विपाद्, उभय प्राणियों का मातृभावना से पोषण करती हो। हे विश्वम्भरे देवि, तुम हिरण्यवक्षा हो। मणि, हिरण्य आदि निधियाँ तुम्हारे निगूढ़ स्थानों में सुगुप्त हैं। तुम्हारी गोद में जन्म लेकर हमारे पूर्वजनों ने अनेक पराक्रम किए। तुमसे जन्म लेकर सब तुम्हारे ही विराट् स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। तुम्हारे ऊपर नृत्य, गान आदि नाना प्रमोद होते हैं। तुम्हारे महायुद्धों में दुन्दुभि घोष होता है। तुम हमारे धर्म की आश्रयदात्री हो। तुम्हारे ऊपर ही यथाप्रान्त विभिन्न-भाषा भाषी ('नाना विवाचस') और नाना धर्मों के माननेवाले मनुष्य निर्विघ्न असम्बाध रूप से रहते हैं। सबमें तुम्हारी ही गन्ध बसी हुई है। तुम ही युवा का तेज और युवती का वर्चस् हो। तुम्हारे पथ अनेक हैं, जिनमें भद्र और पापी, दोनों प्रकार के पुरुष समान रूप से चलते हैं। तुम्हारी अनेक सभा और समितियाँ हैं, जिनमें हमारे सभेय युवा सुचारु रूप से योजित हैं।"

मातृभूमि का हृदय परमव्योम में स्थित है। त्रेतायुग में यह भूमि

किया। हिन्दी भाषा में आपकी पहली कहानी ई० सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तभी से आप बराबर हिन्दी में कहानियाँ लिखते रहे हैं। आपकी कहानियाँ सरल, स्वाभाविक और मनोरञ्जक होती हैं और उनमें समाज का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण देख पड़ता है। आपके हिन्दी ग्रन्थों में 'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता' आदि मुख्य हैं। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अब तक आपने ६० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। 'न्यायमंत्री' गल्प 'गल्प मंजरी' से ली गई है।

श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—

आप कानपुर के निवासी हैं। घर के रईस होने के कारण आजीविका की समस्या से निश्चिन्त होकर आप अपना समय साहित्य-सेवा में ही बिताते हैं। हिन्दी की अनेक मासिक पत्रिकाओं में प्रायः आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के अत्यन्त मार्मिक तथा सच्चे चित्र होते हैं। 'चाँद' में आप प्रायः विजयानन्द दुबे के नाम से 'दुबेजी का चिट्ठा'-शीर्षक हास्य रस पूर्ण पत्र लिखते हैं। आपका 'माँ' नाम का उपन्यास और 'चित्रशाला' तथा 'मणिमाला' नामक कहानी-संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत गल्प 'ताई' आपकी 'चित्रशाला' का उद्धरण है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—

आपका जन्म वि० सं० १९४६ में काशी के एक प्रसिद्ध वैश्य-कुल में हुआ था। हिन्दी के उच्च कोटि के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में आपका स्थान है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आपको कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, सबके लिखने में सफलता प्राप्त हुई है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में आपकी प्रशंसनीय योग्यता है। आपकी रचनाओं में उत्कृष्ट भाषा सौष्ठव देख पड़ता है, जिसमें संस्कृत-शब्दों की बहुतायत

परिशिष्ट

लेखक-परिचय

श्रीयुत बाबू प्रेमचन्द, बी० ए०—

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी-लेखक बाबू प्रेमचदजी का असली नाम मुशी धनपतराय है। 'प्रेमचन्द' नाम से कहानी लिखते रहने से सर्वसाधारण मे आप इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। सवत् १९३७ में आपका जन्म एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में हुआ था। पहले आपने उर्दू में कहानियाँ लिखीं। उर्दू में कहानी-कला के प्रवर्तकों में आपका प्रमुख स्थान है। फिर आपने हिन्दी में लिखना आरम्भ कर पर्याप्त प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा पाई। आप छोटी-छोटी मनोहर कहानियाँ तथा बडे बडे मौलिक उपन्यास लिखने में बहुत सफल हुए हैं। आपकी लेखनी द्वारा पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय, सभी प्रकार के जीवन पर प्रकाश पडा है। आपकी कहानियों में, जिनकी सख्या लग भग ४०० तक होगी, चरित्र चित्रण और मानसिक भावों का विश्लेषण खूब देख पडता है। आपके उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', 'काया कल्प', 'रगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि' उल्लेखनीय हैं। आपकी गल्पों के तो अनेक सग्रह प्रकाशित हुए हैं। आपकी प्रस्तुत गल्पें क्रमश 'हस' (इसमें 'साहित्योपासक' नहीं बल्कि 'लेखक' शीर्षक है) तथा 'प्रेम प्रसून' से उद्धृत है।

श्रीयुत सुदर्शन—

आपका जन्म ई० स० १८९६ में स्यालकोट (पजाब) में हुआ था। प्रेमचन्दजी की तरह आपने भी प्रारम्भ मे उर्दू भाषा मे कहानियाँ लिखीं और समय-समय पर ५—६ उर्दू सामयिक पत्रों का सम्पादन

लिया। हिन्दी भाषा में आपकी पहली कहानी ई० सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तभी से आप बराबर हिन्दी में कहानियाँ लिखते रहे हैं। आपकी कहानियाँ सरल, स्वाभाविक और मनोरञ्जक होती हैं और उनमें समाज का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण देख पड़ता है। आपके हिन्दी-ग्रन्थों में 'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता' आदि मुख्य हैं। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अब तक आपने ६० से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। 'न्यायमंत्री' गल्प 'गल्प मंजरी' से ली गई है।

श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—

आप कानपुर के निवासी हैं। घर के रईस होने के कारण आजीविका की समस्या से निश्चिन्त होकर आप अपना समय साहित्य-सेवा में ही बिताते हैं। हिन्दी की अनेक मासिक पत्रिकाओं में प्रायः आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के अत्यन्त मार्मिक तथा सच्चे चित्र होते हैं। 'चाँद' में आप प्रायः विजयानन्द दुबे के नाम से 'दुबेजी का चिट्ठा'-शीर्षक हास्य रस पूर्ण पत्र लिखते हैं। आपका 'माँ' नाम का उपन्यास और 'चित्रशाला' तथा 'मणिमाला' नामक कहानी संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत गल्प 'ताई' आपकी 'चित्रशाला' का उद्धरण है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—

आपका जन्म वि० सं० १९४६ में काशी के एक प्रसिद्ध वैश्य-कुल में हुआ था। हिन्दी के उच्च कोटि के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में आपका स्थान है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आपको कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, सबके लिखने में सफलता प्राप्त हुई है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में आपकी प्रशंसनीय योग्यता है। आपकी रचनाओं में उत्कृष्ट भाषा-सौष्ठव देख पड़ता है, जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुतायत

परिशिष्ट

लेखक-परिचय

श्रीयुत बाबू प्रेमचन्द, बी० ए०—

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी लेखक बाबू प्रेमचंदजी का असली नाम मुंशी धनपतराय है। 'प्रेमचन्द' नाम से कहानी लिखते रहने से सर्वसाधारण में आप इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। संवत् १९३७ में आपका जन्म एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में हुआ था। पहले आपने उर्दू में कहानियाँ लिखीं। उर्दू में कहानी-कला के प्रवर्तकों में आपका प्रमुख स्थान है। फिर आपने हिन्दी में लिखना आरम्भ कर पर्याप्त प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा पाई। आप छोटी-छोटी मनोहर कहानियाँ तथा बड़े बड़े मौलिक उपन्यास लिखने में बहुत सफल हुए हैं। आपकी लेखनी द्वारा पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय, सभी प्रकार के जीवन पर प्रकाश पड़ा है। आपकी कहानियों में, जिनकी संख्या लगभग ४०० तक होगी, चरित्र चित्रण और मानसिक भावों का विश्लेषण खूब देख पड़ता है। आपके उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'सेवासदन', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि' उल्लेखनीय हैं। आपकी गल्पों के तो अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आपकी प्रस्तुत गल्पें क्रमशः 'हंस' (इसमें 'साहित्योपासक' नहीं बल्कि 'लेखक' शीर्षक है) तथा 'प्रेम प्रसून' से उद्धृत हैं।

श्रीयुत सुदर्शन—

आपका जन्म ई० स० १८९६ में स्यालकोट (पंजाब) में हुआ था। प्रेमचन्दजी की तरह आपने भी प्रारम्भ में उर्दू भाषा में कहानियाँ लिखीं और समय समय पर ५-६ उर्दू सामयिक पत्रों का सम्पादन

किया। हिन्दी भाषा में आपकी पहली कहानी ई० सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। तभी से आप बराबर हिन्दी में कहानियाँ लिखते रहे हैं। आपकी कहानियाँ सरल, स्वाभाविक और मनोरञ्जक होती है और उनमें समाज का सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण देख पड़ता है। आपके हिन्दी ग्रन्थों में 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता' आदि मुख्य है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में अब तक आपने ६० से अधिक पुस्तकें लिखी है। 'न्यायमन्त्री' गल्प 'गल्प मंजरी' से ली गई है।

श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—

आप कानपुर के निवासी है। घर के रईस होने के कारण आजीविका की समस्या से निश्चिन्त होकर आप अपना समय साहित्य-सेवा में ही बिताते हैं। हिन्दी की अनेक मासिक पत्रिकाओं में प्रायः आपकी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के अत्यन्त मार्मिक तथा सच्चे चित्र होते हैं। 'चाँद' में आप प्राय विजयानन्द दुबे के नाम से 'दुबेजी का चिट्ठा'-शीर्षक हास्य रस पूर्ण पत्र लिखते हैं। आपका 'माँ' नाम का उपन्यास और 'चित्रशाला' तथा 'मणिमाला' नामक कहानी-संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत गल्प 'ताई' आपकी 'चित्रशाला' का उद्धरण है।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—

आपका जन्म वि० सं० १९४६ में काशी के एक प्रसिद्ध वैश्य-कुल में हुआ था। हिन्दी के उच्च कोटि के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में आपका स्थान है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आपको कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास, सबके लिखने में सफलता प्राप्त हुई है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में आपकी प्रशंसनीय योग्यता है। आपकी रचनाओं में उत्कृष्ट भाषा सौष्ठव देख पड़ता है, जिसमें संस्कृत-शब्दों की बहुतायत

अरबी, बँगला आदि भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त की थी । आप सरकारी शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर रहे थे और अपने समय में हिन्दी—उर्दू-संस्कृत मिश्रित भाषा, जिसे आजकल 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं—के प्रबल पक्षपाती थे । युक्त प्रान्त में देवनागरी लिपि और स्कूलों में हिन्दी को राजा साहब की ही बदौलत स्थान मिला था । आप हिन्दी गद्य लेखकों के अग्रणी और सुप्रसिद्ध भारतेन्दुजी के विद्या-गुरु थे । राजा साहब ने हिन्दी की असाधारण सेवा की है । इतिहास, भूगोल, बाल-साहित्य आदि अनेक विषयों पर आपने कोई ३५ पुस्तकें लिखीं । आप ठेठ हिन्दी, शुद्ध हिन्दी और खिचडी हिन्दी, कई प्रकार की भाषा सफलतापूर्वक लिख सकते थे, उदाहरणार्थ आपके 'गुटका' में ठेठ हिन्दी, 'मानव धर्मसार' में शुद्ध हिंदी और 'भूगोल हस्तामलक' मे शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ है । आप हिन्दी ही नहीं, उर्दू के भी सिद्धहस्त लेखक थे । इ० स० १८७२ में आपको सी० आई० ई० की उपाधि और सन् १८८७ में वंशपरम्परा के लिए 'राजा' की पदवी प्राप्त हुई । २३ मई सन् १८९५ इ० को काशी में आपका देहान्त हुआ ।

बाबू रामचन्द्र वर्मा—

वि० स० १९४६ में काशी के एक उच्च खत्री-कुल में वर्माजी का जन्म हुआ था । बाल्यावस्था में आपके पिताजी का स्वर्गवास होने से आपकी स्कूली शिक्षा अधिक न हो सकी, पर बाल्यकाल से ही आपमें हिन्दी अनुराग के अंकुर उत्पन्न हो गए थे, जिससे १४-१५ वर्ष की आयु में ही आपकी लेखनप्रवृत्ति आरम्भ हुई । आप 'हिन्दी-केसरी' (नागपुर), 'बिहार बन्धु' (बाँकीपुर), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (मासिक) तथा 'नागरी प्रचारिणी लेखमाला' के सम्पादक रहे हैं । काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग में नियुक्त होकर आपने बरसों तक मनोयोगपूर्वक 'हिन्दी शब्दसागर' का सम्पादन सम्बन्धी कार्य किया है । अँगरेजी, उर्दू, फारसी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं के अच्छे

हुआ था। इन्हें हिन्दी, संस्कृत और अँगरेजी की शिक्षा मिली थी। आपने उर्दू-फारसी का भी अच्छा अभ्यास किया था। आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन एवं अनन्य भक्त थे, आपके लेखों में उन्हीं की शैली देख पड़ती है। आपमें जातीयता कूट-कूटकर भरी हुई थी, अत आप हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहते थे। मिश्रजी हास्यप्रिय और मौजी जीव थे, जिससे आपकी रचनाओं में रोचक तथा मुहावरेदार भाषा, चुटीला व्यग्य और जिन्दादिली देख पड़ती है। आपकी लिखी हुई अथवा अनुवादित लगभग ४० पुस्तकों में 'भारत-दुर्दशा', 'युगलागुलीय', 'हठी हमीर', 'तृप्यन्ताम्', 'आल्हा', 'मन की लहर' आदि मुख्य हैं। 'निबन्ध नवनीत' नाम से आपके कुछ लेखों का सग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—

वि० स० १९२२ में आपका जन्म रोहतक जिले के गुरियानी गाँव में हुआ था। आपने पत्र सम्पादन से ही अपनी जीविका चलाई। पहले आप उर्दू के मुशी और सुलेखक थे और 'अखबारे चुनार' तथा 'कोहेनूर' नामक पत्रों के सम्पादक रहे। फिर आपकी प्रतिभा, हास्य, स्वाभाविक व्यग्य और चुभती हुई शैली हिन्दी में भी प्रस्फुरित होने लगी। सरस एव सुबोध भाषा में लिखे हुए आपके अनेक लेख जिन्दादिली के जीते-जागते नमूने हैं। हिन्दी-पत्रों में आपने 'हिन्दोस्तान', 'वगवासी' और 'भारतमित्र' का सम्पादन किया था। 'शिवशभु' के कल्पित नाम से आपने बहुतसे चुटीले लेख लिखे थे। 'गुप्त निबधावली', 'शिवशभु शर्मा के चिट्ठे' तथा 'चिट्ठे और खत' आपके उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। आपकी स्फुट कविताओं का भी एक सग्रह प्रकाशित हुआ है। स० १९६४ में आपका स्वर्गवास हुआ।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, सी० आई० ई०—

वि० स० १८८० में आपका जन्म एक सम्पन्न जैन घराने में हुआ था। १९ वर्ष की आयु तक आपने अँगरेजी, हिन्दी, संस्कृत, फारसी,

अरबी, बँगला आदि भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। आप सरकारी शिक्षा विभाग के इन्स्पेक्टर रहे थे और अपने समय में हिन्दी—उर्दू संस्कृत मिश्रित भाषा, जिसे आजकल 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं—के प्रबल पक्षपाती थे। युक्त प्रान्त में देवनागरी लिपि और स्कूलों में हिन्दी को राजा साहब की ही बदौलत स्थान मिला था। आप हिन्दी-गद्य लेखकों के अग्रणी और सुप्रसिद्ध भारतेन्दुजी के विद्या-गुरु थे। राजा साहब ने हिन्दी की असाधारण सेवा की है। इतिहास, भूगोल, बाल-साहित्य आदि अनेक विषयों पर आपने कोई ३५ पुस्तकें लिखीं। आप ठेठ हिन्दी, शुद्ध हिन्दी और खिचड़ी हिन्दी, कई प्रकार की भाषा सफलतापूर्वक लिख सकते थे, उदाहरणार्थ आपके 'गुटका' में ठेठ हिन्दी, 'मानव धर्मसार' में शुद्ध हिंदी और 'भूगोल हस्तामलक' में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ है। आप हिन्दी ही नहीं, उर्दू के भी सिद्धहस्त लेखक थे। ई० स० १८७२ में आपको सी० आई० ई० की उपाधि और सन् १८८७ में वंशपरम्परा के लिए 'राजा' की पदवी प्राप्त हुई। २३ मई सन् १८९५ इ० को काशी में आपका देहान्त हुआ।

बाबू रामचन्द्र वर्मा—

वि० स० १९४६ में काशी के एक उच्च खत्री-कुल में वर्माजी का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में आपके पिताजी का स्वर्गवास होने से आपकी स्कूली शिक्षा अधिक न हो सकी, पर बाल्यकाल से ही आपमें हिन्दी अनुराग के अंकुर उत्पन्न हो गए थे, जिससे १४-१५ वर्ष की आयु में ही आपकी लेखनप्रवृत्ति आरम्भ हुई। आप 'हिन्दी-केसरी' (नागपुर), 'बिहार बन्धु' (बाँकीपुर), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (मासिक) तथा 'नागरी प्रचारिणी लेखमाला' के सम्पादक रहे हैं। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग में नियुक्त होकर आपने बरसों तक मनोयोगपूर्वक 'हिन्दी शब्दसागर' का सम्पादन-सम्बन्धी कार्य किया है। अँगरेजी, उर्दू, फारसी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं के अच्छे

ज्ञाता होने के कारण आपने प्रत्येक भाषा के कई ग्रन्थों का उत्तम अनु
किया है। आपकी स्वरचित पुस्तकों में 'सफलता और उसकी सा
के उपाय', 'मानव जीवन', 'भूकम्प' और 'उपवास चिकित्सा' आदि मु
हैं, और अनुवादित ग्रन्थों में 'हिन्दू राजतंत्र', 'दासबोध', 'करुणा', 'अ
बरी दरबार,' 'छत्रसाल' और श्रीद्विजेन्द्रलाल राय के अनेक नाटक
आपकी लिखी हुई, अनुवादित और सकलित पुस्तकों की संख्या १००
लगभग है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—

कौन हिन्दी प्रेमी स्वनाम धन्य आचार्य द्विवेदीजी के नाम से अप
चित होगा? वस्तुत द्विवेदीजी के नाम से अपरिचित रहना हिन्दी
जानने के बराबर है। आपका जन्म वि० स० १९२१ में युक्त प्रान्त
रायबरेली जिले के दौलतपुर कस्बे में हुआ था। आप हिन्दी, संस्कृ
अँगरेजी आदि भाषाओं के पारगामी विद्वान् हैं। आप जी० आई० पी
रेल्वे में अच्छे वेतन पर हेड-क्लर्क थे, परन्तु अपनी हिन्दी-सेवा की प्रब
भावना से प्रेरित होकर आपने वह पद छोड दिया और लगभग बीस व
तक 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के आदर्श सम्पादन द्वारा हिन्दी क
सस्मरणीय सेवा की है। कहना न होगा कि हिन्दी गद्य को इतना उन्नत
करने में द्विवेदीजी की लेखनी बहुत सहायक हुई है। अपने अनवरत
प्रोत्साहन से आपने अनेक हिन्दी-लेखकों को तैयार किया है। आपकी
भाषा बहुत शुद्ध, परिष्कृत, सयत एव मुहावरेदार होती है। वर्तमान
हिन्दी गद्य पर द्विवेदी-कलम का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। गद्य और पद्य,
दोनों में आपको पूर्ण सफलता मिली है, पर आपने विशेषत गद्य-साहित्य
की ही सृष्टि की है। आप बहुत ही खरे समालोचक और इस युग के
हिन्दी के सबसे बड़े उन्नायक हैं। आपके निबन्धों के अनेक सुन्दर सग्रह
प्रकाशित हुए हैं। आपके ग्रन्थों में 'बेकन विचार रत्नावली' 'शिक्षा'

में आपकी सत्तरवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने आपको अत्यन्त सुन्दर एक बृहद् 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ' भेंट किया। उसी अवसर पर प्रयाग में साहित्य सेवियों का द्विवेदी मेला भरा था। द्विवेदीजी ने संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर कई एक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' तथा 'महाभारत' उल्लेख योग्य हैं। 'तीन भाषण' आपके किरातार्जुनीय में संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया गया है। पढ़ने पर यह संस्कृत का अनुवाद नहीं, बल्कि स्वतंत्र रचना जान पड़ती है। द्विवेदीजी के जीवन से प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। –

पंडित पद्मसिंह शर्मा—

पंडित पद्मसिंहजी शर्मा युक्त प्रान्त के बिजनौर जिले के नायक नगला गाँव के निवासी और उदार विचारों के आर्यसमाजी थे। आप संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फारसी के पारंगत विद्वान् और उच्च कोटि के काव्य मर्मज्ञ थे। हिन्दी में शर्माजी द्वारा आविष्कृत तुलनात्मक समालोचना की शैली वस्तुतः अपने ढंग की एक अनूठी चीज है। बिहारी की सतसई की पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका पर आपने 'सतसई संहार' नामक अपूर्व आलोचना लिखी, तब हिन्दी-संसार ने आपके सच्चे स्वरूप को पहचाना। इसी तुलनात्मक आलोचना पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। आपकी भाषा अत्यन्त सजीव और चुटीली है, बीच बीच में उर्दू तथा संस्कृत की भी बहार रहती है। शर्माजी सत्कवियों के बड़े भक्त थे, इसी से हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत के सुकवियों की मनोहर सूक्तियाँ बातचीत में आपके मुख से सुन पड़ती थीं। इसके सिवा शर्माजी एक आदर्श पत्र-लेखक थे, पत्रों के एक-एक शब्द में आपका व्यक्तित्व झलकता था। आपके ग्रंथों में बिहारी सतसई के दो भाग, 'हिन्दी उर्दू या हिन्दुस्तानी' (प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अध्यक्षता में दिए गए व्याख्यान), 'पद्म

शीर्षक आपके निबन्धों का संग्रह (जिसका एक अंश 'पंडित श्रीसत्य-नारायण कविरत्न' इस ग्रंथ में लिया गया है) तथा संपादित 'प्रबंध-मंजरी' (संस्कृत) उल्लेखनीय है। ई० सं० १९३२ में आपका स्वर्गवास हुआ।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल—

वि० सं० १९४१ में युक्त प्रान्त के बस्ती जिले के अगोना गाँव में शुक्लजी का जन्म हुआ था। आपने बाल्यकाल में संस्कृत की शिक्षा पाई और कॉलेज में इंटरमीडिएट तक अध्ययन किया। सन् १९०६ में आप 'हिन्दी-शब्दसागर' के सहकारी संपादक नियुक्त हुए और लगभग नौ वर्ष तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (मासिक) का सम्पादन करते रहे। इधर कई वर्षों से आप काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफेसर हैं। आप उत्कृष्ट कवि और गंभीर गद्य लेखक हैं, परन्तु आपकी अधिकतर रचनाएँ गद्य में है। आप प्रकृति से ही गम्भीर हैं, अतः आपने मनोविकारों अथवा साहित्यिक विषयों पर अनेक उत्कृष्ट लेख लिखे हैं। आपकी भाषा बहुत शुद्ध, प्रौढ़, गठी हुई और विषय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त होती है, किन्तु निबन्धों की शैली गंभीर एवं पाण्डित्य-पूर्ण होने से सर्व-साधारण के लिए क्लिष्ट होती है। सूरदास, तुलसीदास और जायसी पर लिखे गये आलोचनात्मक निबन्ध आपकी अध्ययनशीलता, बहुश्रुतता एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य के परिचायक हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्य में आप अपना जोड़ नहीं रखते। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', बुद्ध-चरित', 'आदर्श जीवन' आदि आपके मननीय ग्रन्थ हैं। 'अध्ययन' आपके 'आदर्शजीवन' का एक अंश है।

बाबू राय कृष्णदास—

आपका जन्म काशी में वि० सं० १९४९ में हुआ था। राय साहब के पिता भारतेन्दुजी के फुफेरे भाई थे। ९ वर्ष की आयु में ही काव्य-रचना आरम्भ कर इन्होंने अपनी साहित्यक प्रतिभा का परिचय दिया था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त कविता में आपके पथ प्रदर्शक रहे हैं। आपकी

लेखनी के द्वारा कहानी, काव्य, उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति होती रही है। आपपर बंगला-साहित्य का प्रभाव पड़ा है, अत कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के ढंग पर आपने 'साधना' की रचना की। आपकी रचनाओं में शुद्ध भाषा और गंभीर भाव रहते हैं। आप प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ हैं। आपने कला-कृतियों का एक सुरुचिपूर्ण एवं बृहद् संग्रह किया, जो वास्तव में आपकी सबसे बड़ी कीर्ति है। कुछ वर्ष पूर्व आपने यह अपूर्व संग्रह काशी नागरीप्रचारिणी सभा को प्रदान कर दिया है।

श्रीयुत वियोगी हरि—

वि० सं० १९५३ में छतरपुर (बुन्देलखंड) के एक कान्यकुब्ज-कुल में आपका जन्म हुआ था। आपका पुराना नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है, उसी की एक संज्ञा 'वियोगी हरि' है, जो आपकी रचनाओं में मिलती है। मैट्रिक्युलेशन तक आपकी शिक्षा हुई और संस्कृत का भी आपने अध्ययन किया। सात मास की आयु में ही आपके पिताजी का देहान्त होने से नाना के यहाँ आपका लालन पालन हुआ। आप बड़े भावुक, भक्त और गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक हैं, और गद्य-काव्य की रचना में बहुत सफल हुए हैं। ब्रजभाषा मर्मज्ञ होने से आपकी पद्य-रचना ब्रजभाषा में ही होती है। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना और सम्पादन किया है, जिनमें से 'वीरसतसई', 'साहित्य विहार', 'अन्तर्नाद,' 'विश्वधर्म', 'प्रेम-योग', 'प्रबुद्ध यामुन' आदि रचनाएँ मुख्य हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने 'वीरसतसई' पर आपको १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। इस समय आप दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय हरिजन सेवक-संघ के मुखपत्र 'हरिजन' का सम्पादन कर रहे हैं। 'चित्रांकन' और 'तीर्थयात्रा' लेख आपके 'अन्तर्नाद' के उद्धरण हैं।

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०—

आचार्य द्विवेदीजी की भाँति बाबू श्यामसुंदरदासजी का नाम भी हिन्दी के इतिहास में अमर रहेगा। ई० स० १८७५ में काशी के एक

इसके सिवा इनके ग्रन्थों में 'सिरोही राज्य का इतिहास,' 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' तथा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' उल्लेखनीय है। आपकी ऐतिहासिक शोध की गुणग्राहकता प्रकट करने के लिए सरकार ने आपको सन् १९१४ में राय बहादुर और १९२८ में महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की। 'प्राचीन लिपिमाला' पर आपको सन् १९२४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। तेरह वर्ष तक आपने 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (त्रैमासिक) का संपादन किया है।

पंडित हरिशंकर शर्मा कविरत्न—

आप हरदुआगंज (अलीगढ़ जिला, युक्त प्रान्त) के निवासी तथा सुप्रसिद्ध कवि पं० नाथूराम शंकर शर्मा के विद्वान् सुपुत्र हैं। आपकी आयु ४२ वर्ष की है। आप गद्य और पद्य के सुलेखक हैं। प्रायः देखा जाता है कि गंभीर विषयों के लेखक हास्य रस के लेख नहीं लिखते, परन्तु शर्माजी की यह विशेषता है कि आप गद्य में गंभीर और हास्यपूर्ण विषयों पर सफलतापूर्वक लिखते हैं। आपकी भाषा परिष्कृत, गठी हुई और मुहावरेदार होती है। आपने बरसों तक 'भारतोदय' और 'आर्यमित्र' का उत्तम सम्पादन किया है। आपने लगभग बीस पुस्तकें लिखी हैं। आपके ग्रन्थों में 'चिड़ियाघर', 'जीवन-ज्योति', 'प्रतापी प्रताप' तथा 'धर्म का आदिस्रोत' (अनुवाद) उल्लेखनीय हैं। अन्तिम पुस्तक के कई संस्करण हो गये हैं। 'चहचहाता चिड़ियाघर' और 'विज्ञानाचार्य एडीसन' क्रमशः आपके 'चिड़ियाघर' और 'जीवन ज्योति' के उद्धरण हैं।

श्रीयुत रविशंकर-महाशंकर रावल—

ई० स० १८९२ में भावनगर (काठियावाड़) में आपका जन्म एक सहस्र-औदीच्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। सन् १९१० में मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास कर आपने बंबई की आर्ट सोसाइटी में चित्रकला की शिक्षा पाई। पाँच वर्षों के अभ्यास के अनन्तर

अपने सर्वोत्कृष्ट चित्रों के लिए आपको उक्त संस्था की ओर से एक सुवर्ण-पदक तथा मेयो-पदक प्राप्त हुआ। इस समय आप गुजरात के सर्व श्रेष्ठ चित्रकार एवं कला कोविद माने जाते हैं। आप चाहते तो अपने चित्रों द्वारा प्रचुर धन उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आपके हृदय में अपने प्रान्त में कलामय वातावरण उत्पन्न करने की प्रबल भावना विद्यमान थी, इसलिए आपने कला के विविध अंगों के प्रचार के उद्देश्य से 'कुमार' मासिक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन आरम्भ किया। इस समय अहमदाबाद का कुमार-कार्यालय तथा कुमार प्रिंटरी गुजरात की संस्कृति को उज्ज्वल और देदीप्यमान करने में बहुत सहायक हो रहे हैं। इधर कुछ समय से आपने अहमदाबाद में 'गुजरात-कला-संघ' की स्थापना की है। इसका उद्देश्य गुजरात-काठियावाड़ की कला के सब अंगों का अध्ययन और चित्रकला की उत्तम शिक्षा द्वारा नये कलाकोविदों को तैयार करना है। 'लोक सुन्दर चित्रो' में रावलजी की कुछ उत्कृष्ट कला कृतियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपका 'अजन्ता का कलामंडप' लेख 'विशाल भारत' ('कलांक') से उद्धृत किया गया है।

चारू रामचन्द्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०—

टंडनजी का जन्म युक्त प्रान्त के फैजाबाद जिले के अकबरपुर कस्बे में ई० स० १८९९ में हुआ था। आपने हिन्दी और अँगरेज़ी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। इतिहास भी आपका प्रिय विषय है। आपकी भाषा साहित्यिक और विवेचना सुन्दर होती है। समय-समय पर पत्रिकाओं में आपके अनेक उत्तम लेख निकले हैं। हिन्दी और अँगरेजी में आपकी कई मौलिक एवं अनूदित रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें 'श्रीमती सरोजिनी नायडू', 'रेणु', 'कलाकार निकोल्स रोरिक', 'सॉङ्गस ऑफ् मीरा बाई', 'रूसी कहानियाँ', 'टाल्स्टाय की कहानियाँ', 'कसौटी', 'कलरव' आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्षों से आप प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिटरेरी असिस्टेंट तथा तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के सम्पादक हैं।

बाबू श्रीगोपाल नेवटिया—

आप जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रान्त के फतहपुर नगर के निवासी हैं। वि० स० १९६३ में आपका जन्म एक अग्रवाल वैश्य कुल में हुआ था। आपने हिन्दी, संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती भाषाओं की जानकारी ही नहीं, बल्कि उच्च कोटि के साहित्य का भी अध्ययन किया है। आप हिन्दी के उदीयमान एवं प्रतिभाशाली लेखक हैं। 'त्यागभूमि' आदि पत्रिकाओं में आपके भावप्रधान लेख और कविताएँ छपी हैं। नेवटियाजी ने कवितामय हृदय पाया है। आपकी "भाषा प्रौढ़, कवित्वपूर्ण, मधुर और भावापन्न होती है"। आप साधारण बात का भी ऐसा सरस वर्णन करते हैं मानो कोई गद्य काव्य हो। भूस्वर्ग काश्मीर पर हिन्दी में आपने सर्वप्रथम सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ लिखा। इनकी अन्य रचनाओं में 'यूरोप की कहानियाँ', 'यूथिका' और 'मुस्लिम सन्तों के चरित' उल्लेखनीय हैं। 'दो उपवन' आपके 'काश्मीर' का एक अंश है।

श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल्० बी०—

आप लखनऊ निवासी नवयुवक हैं। आपकी आयु लगभग ३०-३२ वर्ष की है। काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्वविद्यालय में आपका अध्ययन-काल बहुत उज्ज्वल रहा है। इतिहास, धर्म, अध्यात्म और वैदिक विषयों का आपने गंभीर अध्ययन किया है और इन्हीं विषयों पर आपके अनेक मौलिक लेख पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आप जैसे मौलिक लेखक से हिन्दी साहित्य को बहुत आशाएँ हैं। वि० स० १९८९ में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'मथुरा की बौद्ध कला' आपका मननीय निबन्ध है। आपकी भाषा चुस्त, मुहावरेदार और भावापन्न होती है। इस पुस्तक में उद्धृत 'मातृभूमि' लेख में आपकी भाषा, भावुकता तथा अध्ययनशीलता का अच्छा परिचय मिलता है। इस समय आप मथुरा के पुरातत्व सग्रहालय के अध्यक्ष हैं।

'मातृभूमि' पर टिप्पणी

पृ० ४५१ इसके उत्तर में स्थित है—कालिदास प्रणीत 'कुमारसम्भव' महाकाव्य के 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज । पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थित पृथिव्या इव मान दण्ड (सर्ग १, श्लोक १) का भाव । कान्ता विश्लेषित भेजा था—कालिदास के 'मेघदूत' में वर्णित घटना ।

पृ० ४५२ अनन्त रत्नों उत्पन्न है—देखो 'कुमारसम्भव', सर्ग १, श्लोक ३ और १० । चमरी गाएँ—इनकी पूँछ के बालों के चँवर बनते हैं, इनके वर्णन के लिए देखो 'कुमारसभव', सर्ग १, श्लो० १३ । आर्ष—ऋषि-संबंधी अथात वैदिक । गोप्ता-रक्षक । उत्तर कुरु—हिमालय के उस पार का प्रदेश । वर्ष-पौराणिक ग्रन्थों में जम्बूद्वीप के नौ विशाल भाग माने गये हैं, जिनको वर्ष कहते हैं । उनके नाम हैं कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इला वृत, हरि, केतुमाल, भद्राश्व, किम्पुरुष और भारत । 'महोदरा मया प्ररोह'—'विक्रमाङ्कदेवचरितम्', सर्ग १, श्लो० २१ । शारदा देश—काश्मीर ।

पृ० ४५४ कौमारभृत्य—बालकों के लालन-पालन और चिकित्सा आदि की विद्या, यह आयुर्वेद का एक अग है । शल्य शास्त्र—चीर-फाड का इलाज, शस्त्र चिकित्सा । वितस्ता—झेलम नदी । चन्द्रभागा (असिक्नी)—चिनाब नदी । इरावती (परुष्णी)—रावी नदी । शुतुद्र—सतलज नदी । विपाशा—व्यास नदी । सम्राट् सुदास हुआ था—ऋग्वेद, मडल ७, सूक्त ८३ में वर्णित ।

पृ० ४५५ देहली—दिल्ली नगर । तप पूत ब्रह्मचारी—नचिकेता, वाजश्रवा ऋषि का पुत्र, जिसने मृत्यु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था ।

पृ० ४५६ पुरुषपुर—वर्तमान पेशावर, जो पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश की राजधानी है ।

पृ० ४५७ स्थाण्वीश्वर—वर्तमान थानेसर (पजाब में) । सूर्य की दुहिता—यमुना नदी । सूरजमल—बूँदी राज्य का चारण कवि मिश्रण सूर्यमल्ल । सलिलार्णव—समुद्र ।

पृ० ४५८ यौधेय—वर्तमान जोहिये। मध्यमिका नगरी—मेवाड़ में चित्तोडगढ़ के सुप्रसिद्ध दुर्ग से सात मील उत्तर में नगरी नामक अतिप्राचीन स्थान। विराट्—जयपुर राज्य में जयपुर से करीब ४० मील उत्तर में वैराट् नामक कस्बा। श्रीमाल—जोधपुर राज्य का भीनमाल नगर।

पृ० ४५६ माया—प्रसिद्ध तीर्थ हरद्वार। कौशाम्बी—प्रयाग से ३० मील पर यमुना तट का कोसम नामक स्थान। श्रावस्ती—युक्त प्रान्त के गोंडा जिले में राप्ती नदी के तट पर सहेत-महेत नामक स्थान। शब्दब्रह्म वाणी—यह महाकवि भवभूति के 'शब्दब्रह्मविद कवेः परिणता प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्' ('उत्तररामचरित,' अंक ७, श्लो० २०) का अनुवाद है।

पृ० ४६१ सत्य चतुष्टय—इनको चार आर्य सत्य भी कहते हैं, ये हैं दुःख, दुःख का कारण, दुःख का रोका जाना (दुःखनिरोध) और दुःख निरोध को प्राप्त करानेवाला मार्ग। अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाच्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। तथागत—गौतम बुद्ध।

पृ० ४६३. यहीं के कहलाती थी—कालिदास लिखित मगधराज के वर्णन के 'काम नृपा सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्' ('रघुवंश', सर्ग ६, श्लो० २२) का भावानुवाद।

पृ० ४६४ सिल्यूकस का राजदूत—मेगास्थनीज।

पृ० ४६५ 'अतिद्वयी कथा'—बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कादम्बरी' की भूमिका के अन्तिम श्लोक में इन शब्दों का प्रयोग किया है (' धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा')। 'अतिद्वयी' का एक अर्थ है अद्वितीय। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि जो कथा (अर्थात् कादम्बरी) दो (पूर्ववर्ती कवियों द्वारा रचित) कथाओं से बढ़कर हो, अर्थात् गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और सुबन्धु रचित 'वासवदत्ता', जिनका बाण ने 'हर्षचरित' में उल्लेख किया है, 'कादम्बरी' के सामने फीकी जान पड़ती है।

पृ० ४६७ जयदेव—'गीतगोविन्द' का रचयिता। विपची—एक प्रकार की वीणा। धोयी कवि—'पवनदूत' का प्रणेता। नवद्वीप—वर्तमान नदिया।

पृ० ४६८ चर्मण्वती—चंबल नदी। वेत्रवती—बेतवा नदी। सिन्धु—मध्य भारत की कालीसिन्ध नदी। उज्जयिनी—ग्वालियर राज्य का उज्जैन नगर। माहिष्मती—इन्दौर राज्य का नर्मदा तटस्थ महेश्वर कस्बा। ताम्रलिप्ती—बंगाल के मिदनापुर जिले का तमलुक नामक कस्बा। विशाला—उज्जैन नगर।

पृ० ४६९ कल्किराज—कुछ इतिहासवेत्ता महाराज यशोधर्मन् को कल्कि अवतार मानते हैं, परन्तु यह केवल कपोलकल्पना है।

पृ० ४७० रेवा—नर्मदा नदी। विदर्भ—वर्तमान बरार जिला।

पृ० ४७२ अणहिल्पत्तन—बड़ोदा राज्य का पाटण नामक कस्बा।

पृ० ४७३ वल्भी—काठियावाड के वळा राज्य की उसी नाम की राजधानी। अर्हत—जैन धर्मावलम्बी। द्वारावती—काठियावाड में सुप्रसिद्ध हिन्दू-तीर्थ द्वारका। यवन विध्वंसक—महमूद गजनवी।

पृ० ४७४ मोरवी—स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म वि० सं० १८८१ में मोरवी राज्य के टंकारा गाँव में हुआ था।

संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित	पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
२	१६	रात रात	रात	४६	१२	हमेंले लगाली	हमें ले लगाली
३	१३	हुईं	हुई	६१	१	पक ने	पकड़ने
४	६	कभी	कभी	६७	९	सिरे	सिर
४	१७	कीति	कीर्ति	६७	१७	सांचलिका	संचालिका
५	२२	उसके	उनके	८१	५	पाल	पोल
२२	२	मेरा	मेरे	८३	११	हे	है

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित	पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
९७	१३	गर	ग़ैर	३००	१२	का	को
१०७	१	नकरा	बकरी	३०७	१९	ज्ञिान	ज्ञान
१३३	१९-२०	भी भी	भी	३२९	१५	भातर	भारत
१३८	१४	समझा ता	समझी तो	३३१	५	बन	बना
१५६	११	का	को	३४५	२०	नेकविता	ने कविता
१५८	१	लची	चली	३४७	१२	उत्तोजित	उत्तेजित
१६२	४	बतलाया	बतलाता	३५०	२	की	को
१७२	१३	।		३५७	१९	समात्रा	सुमात्रा
१८९	१५	आधात	आघात	३७२	२०	है	हैं।
१९५	११	द्वेप का	द्वेष	३८६	४	होग ई	हो गई
२१०	११	नहीं हीं	ही नहीं	३९२	२१	सक्ता	करता
२३०	१४	।		३९२	२२	अध्ययम	अध्ययन
२३२	७	परिवर्तनउ	परिवर्तन	३९८	९	काम र्ग	का मार्ग
		पस्थित	उपस्थित	४०८	१७	और	ओर
२४२	१	अग	अग	४०९	२	उनक	उनकी
२४७	५	नधती	बँधती	४२१	१	ठ्ठेठ	उन्हें
२५१	१६	दें	दे	४४२	१५	शोभा	शोभा का
२७१	५	शुप	सुख	४५१	११	योवनोन्मेष	यौवनोन्मेष
२७८	४	कोईमत	कोई मत	४७२	८	गयाहै	गया है
२८१	१२	हा	ही	४७०	१०	करोजवल-	करोज्ज्वल
२८७	१	समझने	समझाने	४८७	११	शुद्ध	खिचड़ी

